
धर्म एक स्वरूप अनेक
(भाग-2)

विषय सूची

अध्याय सं	पाठ का नाम	पेज संख्या
अध्याय-1	जैन धर्म	4-48
	जैन धर्म का द्रव्य एवं आत्मा सम्बन्धी विचार, बंधन और मोक्ष का चिंतन, कर्मवाद, मोक्ष प्राप्ति के उपाय, त्रिरत्न, पांच महाव्रत, जैन धर्म और बौद्ध धर्म, जैन धर्म और हिन्दू धर्म	
अध्याय-2	बौद्ध धर्म	49-94
	चतुर्थ आर्यसत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद, अष्टांग मार्ग, महायान एवं हीनयान सम्प्रदाय	
अध्याय-3	इस्लाम धर्म	95-137
अध्याय-4	पारसी धर्म	138-154
	पारसी धर्म, पारसी और हिन्दू धर्म	
अध्याय-5	ईसाई धर्म	155-198
	ईसाई धर्म में ईश्वर का स्थान, अशुभ की समस्या एवं समाधान, ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म और बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म और यहूदी धर्म	

अध्याय-6	हिन्दू धर्म	199-306
	हिन्दू धर्म में ईश्वर का चिंतन, कर्म सिद्धान्त, वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, वैदिक धर्म के सिद्धान्त, पुनर्जन्म, अवतारवाद, पुरुषार्थ, मोक्ष की अवधारणा, राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, उच्च कोटि की नैतिकता, समन्वयवादी दृष्टिकोण	
अध्याय-7	यहूदी धर्म	307-323
	यहूदी धर्म की विशेषताएं, ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा, आचार शास्त्र	

अध्याय-1

जैन धर्म

(Jainism)

जैन का द्रव्य-सम्बन्धी विचार

जैन धर्म वस्तुओं में अनन्त गुण मानता है। गुण दो प्रकार के हैं—नित्य या स्थायी (permanent or eternal) और अनित्य या अस्थायी (temporary or non-eternal)। नित्य गुण वस्तुओं में सदैव विद्यमान रहते हैं, किन्तु अस्थायी गुण वस्तुओं में अनिवार्य रूप से नहीं पाये जाते। नित्य गुण आवश्यक गुण हैं, किन्तु अस्थायी रूप से नहीं पाये जाते। नित्य गुण आवश्यक गुण हैं, किन्तु अस्थायी गुण आकस्मिक गुण कहे जाते हैं। 'चेतना' वस्तुओं का आवश्यक गुण है तथा सुख, दुःख आदि आकस्मिक गुण हैं। जैन-विचारक आवश्यक गुणों को 'गुण' और आकस्मिक गुणों को 'पर्याय' कहते हैं।

गुण सदैव किसी वस्तु या आधार में ही रहते हैं। आधार के अभाव में इसकी कल्पना नहीं की सकती। अतः जैन धर्म के अनुसार, द्रव्य वह है, जिसमें गुण एवं पर्याय दोनों विद्यमान हों।¹ दूसरे शब्दों में, द्रव्य में आवश्यक एवं आकस्मिक दोनों प्रकार के

गुण पाये जाते हैं। साधारणतः द्रव्य में केवल आवश्यक गुणों को स्वीकार किया जाता है; किन्तु जैन-विचारक इसमें आवश्यक एवं अनावश्यक दोनों प्रकार के गुणों को स्वीकार कर द्रव्य-सम्बन्धी अपना अनूठा मत प्रस्तुत करते हैं। वेदान्त-दर्शन के अनुसार, ब्रह्म नित्य (eternal) है, किन्तु बौद्ध-दर्शन विश्व को अनित्य बतलाता है। माधवा जार्ज ने भी सर्वदर्शन संग्रह नामक पुस्तक में इस बात की पुष्टि की है। जैन-दर्शन वेदान्त और बौद्ध दोनों को एकांगी बतलाकर नित्यता और अनित्यता दोनों को अपने द्रव्य में स्थान देता है। डॉ. राधाकृष्णन, डॉ. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता, जे. एन. सिंह आदि ने भी इस बात की पुष्टि की है।

द्रव्यों के भेद (Kinds of Substances)

जैन धर्म के अनुसार, द्रव्य दो प्रकार के हैं—शरीरधारी या अस्तिकाय (extended) और अशरीरी या अनस्तिकाय (non-extended)। शरीरधारी द्रव्य स्थान घेरते हैं, किन्तु अशरीरी द्रव्य स्थान नहीं घेरते। अशरीरी द्रव्य केवल एक ही है। यह है समय या काल (time)। काल स्थान नहीं घेरता। काल के अतिरिक्त अन्य सभी द्रव्य स्थान घेरने के कारण शरीरधारी या अस्तिकाय (extended) कहे जाते हैं। ये सभी द्रव्य विस्तारयुक्त होते हैं। उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में इस बात की पुष्टि की है।

अस्तिकाय द्रव्य भी दो प्रकार के होते हैं—जीव (self or living) और अजीव (non-living or inanimate substances)। इसे क्रमशः आत्मा और जड़ कहा जाता है। जीव या आत्मा के भी दो प्रकार हैं—मुक्त (liberated or free) और बद्ध (in bondage)। मोक्ष प्राप्त जीव 'मुक्त' कहे जाते हैं और जिन्हें मोक्ष नहीं मिला है वे 'बद्ध' या बन्धनग्रस्त कहे जाते हैं। बद्ध जीवन के दो भेद हैं—चर या गतिशील (mobile) और अस्थावर या गतिहीन (immobile)। जीव या आत्मा पर अगले प्रश्नोत्तर में विचार किया जायगा। यहाँ केवल अजीव (non-living) का ही वर्णन किया जा रहा है।

अजीव या जड़—द्रव्य (Inanimate Substances)

अजीव चार प्रकार के होते हैं—धर्म, अधर्म, पुद्गल और आकाश।

(i) धर्म और अधर्म

साधारणतः धर्म का अर्थ पुण्य (virtue) और अधर्म का अर्थ पाप (vice) होता है। किन्तु जैन-विचारक धर्म और अधर्म को एक विशेष अर्थ में ग्रहण करते हैं। "वस्तुओं" को गतिशील रखने के लिए जिस सहायक वस्तु की आवश्यकता होती है उसे 'धर्म' कहते हैं।" अधर्म धर्म का विरोधी है। अतः जिस सहायक वस्तु की मदद से वस्तुओं को स्थिर एवं विश्राम में रखा जाता है, उसे

ही 'अधर्म' कहा जाता है। तत्त्वार्थ सूत्र में इस बात की सम्यक विवेचना की गई है। आचार्यरत्न कनकनन्दीजी एवं डॉ. सोहन राज तातेड़ ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है। पञ्चचारित काय, समयसार नामक ग्रन्थ में बतलाया गया है— "देश (आकाश) अपने-आप में न गति की अवस्था में है और न ही स्थिरता की अवस्था में।" पदार्थों के एक साथ देश में लटकते रहने से अस्तव्यस्तता आ जायेगी। विश्व के निर्माण के लिये उन्हें गति एवं स्थिरता के किन्हीं नियमों में बद्ध होना जरूरी है। धर्म गति का माध्यम है, कारण नहीं। जल अपने-आप में निश्चेष्ट एवं उदासीन रहते हुए भी मछली की गति का नियन्त्रण करता है।

अर्थात्— मछली को तैरने या गतिशील होने के लिए जल सहायक वस्तु है। इसलिए जल-धर्म है। इसी प्रकार पंखे की हवा में नींद आने लगती है और व्यक्ति विश्राम करने लगता है। यहाँ 'पंखे की हवा' अधर्म का उदाहरण है। माधवाचार्य, रवीन्द्र नाथ टैगोर, डॉ. राधाकृष्णन आदि ने भी इस बात का समर्थन किया है।

(ii) पुद्गल

जैन-दर्शन में जड़-तत्त्वों को पुद्गल कहा जाता है। सर्वदर्शन के अनुसार, जिसका संयोग और विभाग किया जा सके,

उसे 'पुद्गल' कहते हैं। पुद्गल का सबसे छोटा अंश जिसका विभाजन सम्भव न हो, 'अणु' (atom) कहलाता है। दो या दो से अधिक अणुओं के संयोग से 'संघात' या 'स्कंध' बनते हैं। शरीर एवं अन्य भौतिक पदार्थ विभिन्न अणुओं के संयोग से बनते हैं। पुद्गल में चार प्रकार के गुण-रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श-पाये जाते हैं। इसमें आठ प्रकार के स्पर्श-गुण विद्यमान हैं। वे हैं-कोमलता, कठोरता, विशालता, लघुता, गर्मी, ठंड, चिकनापन और रूखापन। इसमें पाँच प्रकार के रस पाये जाते हैं-नीता, कडुआ, खट्टा, मीठा एवं कषाय। इसमें दो प्रकार की गन्ध रहती है-सुगन्ध और दुर्गन्ध। और इसमें पाँच प्रकार के रूप होते हैं-काला, नीला, पीला, सफेद और लोहित। जैनों के अनुसार शब्द पुद्गल का गुण नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र, के अध्ययन से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है।

(iii) आकाश

धर्म, अधर्म, पुद्गल, जीव-जैसे अस्तिकाय द्रव्यों को स्थान देनेवाला आकाश है। आकाश स्वयं विस्तृत न होकर विस्तारयुक्त द्रव्यों को स्थान प्रदान करता है। आकाश का प्रत्यक्षीकारण नहीं होता। इसका ज्ञान अनुमान द्वारा होता है। आकाश दो प्रकार का है-लोकाकाश (filled space) और अलोकाकाश (empty space)।

लोकाकाश गतियुक्त होने के कारण जीव, पुद्गल, धर्म और अधर्म का निवास-स्थान है। अलोकाकाश में गति का अभाव है। इसलिए यह निवास-स्थान के योग्य नहीं है। आचार्य कनक नन्दी जी एवं डॉ. सोहन राज तातेड़ ने भी इस बात की पुष्टि की है।

(iv) काल

अनस्तिकाय (non-extended) द्रव्य का एकमात्र उदाहरण काल (time) हैं। द्रव्यों के परिणाम (modification) और क्रियाशीलता (movement) की व्याख्या काल के आधार पर ही की जा सकती है। नवीन, प्राचीन, पूर्व, पश्चात् आदि की व्याख्या काल के माध्यम से सम्भव है। काल मौलिक रूप में अविभाज्य है। किन्तु सुविधा के लिए इसके वर्ष, महीना, दिन, घंटा, मिनट, सैकण्ड आदि में कृत्रिम विभाजन करते हैं। इस प्रकार काल के दो प्रकार हैं—व्यावहारिक काल (empirical time) और पारमार्थिक काल (real or transcendental time)। व्यावहारिक काल को 'समय' कहते हैं और इसका कृत्रिम विभाजन सम्भव है। पारमार्थिक काल अविभाज्य, नित्य एवं अमूर्त है। षडदर्शन समुच्चय एवं स्याद् मंजरी में भी इस बात की पुष्टि की गई है।

जैन धर्म का आत्मा-सम्बन्धी विचार

सभी आस्तिक दर्शन आत्मा की सत्ता में विश्वास करते हैं। किन्तु इसके स्वरूप को लेकर इनमें मतैक्य नहीं है। सांख्य और वेदान्त आत्मा को नित्य एवं अविकारी (eternal and unchanging) मानते हैं। न्याय और वैशेषिक के अनुसार, आत्मा एक और नित्य है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार आत्मा न तो पूर्णतया नित्य है और न पूर्णतया परिवर्तनशील है। आत्मा नित्य भी है और परिवर्तनशील भी है। आत्मा के रूप में परिवर्तन होता रहता है, इसलिए यह परिवर्तनशील है। किन्तु इसका स्वभाव नहीं बदलता। इसलिए इसे नित्य कहा जाता है। इस प्रकार जैन-धर्म के अनुसार, आत्मा नित्य और परिवर्तनशील है। किन्तु इसका स्वभाव नहीं बदलता। इसलिए इसे नित्य कहा जाता है। इस प्रकार जैन-धर्म के अनुसार, आत्मा नित्य और परिवर्तनशील दोनों है। सर्वदर्शन संग्रह में भी इस बात की पुष्टि की गई है।

जैन धर्म में जीव और आत्मा को एक ही अर्थ में लिया गया है। जीव वे द्रव्य हैं, जिनमें प्राण या जीवन विद्यमान हो। जीव का आवश्यक गुण चेतना (consciousness) है। सभी जीवों में एक ही समान चेतना नहीं रहती। पौधों में चैतन्य अविकसित रूप में रहता है। मनुष्य में चेतना विकसित अवस्था में रहती है। पौधों और मनुष्यों के बीच चींटी, मक्खी आदि जीव आते हैं। इनमें

चेतना पौधों की अपेक्षा विकसित रहती हैं, किन्तु मनुष्य एवं कैवल्य प्राप्त जीवों की अपेक्षा कम विकसित रहती है। नेमिचन्द्र ने भी इस बात की पुष्टि की है।

चार्वाक—दर्शन शरीर और आत्मा को एक मानता है। इसके अनुसार, चेतना शरीर का ही गुण है। जैन—दर्शन चार्वाक के मत का खंडन निम्नांकित युक्तियों के आधार पर करता है—

(क) यदि चेतना शरीर का गुण रहती तो इसे सदैव शरीर के साथ विद्यमान रहना चाहिए था। किन्तु मृत्यु के बाद शरीर तो पड़ा रहता है, किन्तु इसमें चेतना नहीं रहती। इसलिए चेतना को शरीर का गुण नहीं कहा जा सकता।

(ख) यदि चेतना को शरीर गुण मान लिया जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि शरीर के मोटा—पतला होने से चेतना भी मोटी—पतली होती रहती है। ऐसा मानना पूर्णतः हास्यास्पद है।

(ग) चार्वाक के अनुसार, 'मैं अंधा हूँ, मैं बहरा हूँ आदि वाक्य शरीर और आत्मा की एकता सिद्ध करते हैं। यहाँ 'मैं' शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन वाक्यों से केवल इतना ही पता चलता है कि आत्मा और शरीर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों में घनिष्ठता के कारण ही बोलचाल की भाषा में उपर्युक्त

वाक्यों का प्रयोग हुआ है। बोल-चाल की भाषा को तर्क का रूप नहीं दिया जा सकता है। इसलिये चार्वाक की आत्मा एवं शरीर की एकता की अवधारणा दोषपूर्ण है।

(घ) यदि बोलचाल की भाषा को ही तर्क का रूप दिया जाए तो फिर 'मेरा' शरीर', 'मेरे पैर मेरे हाथ' आदि वाक्यों से आत्मा और शरीर की भिन्नता स्पष्ट नजर आती है। यहाँ जीव 'मेरा' स्वामी (possessor) है और 'शरीर' उसकी निधि (possessed) है। अतः शरीर और आत्मा एक नहीं बल्कि परस्पर भिन्न हैं। चेतना आत्मा का गुण है, शरीर का गुण नहीं। आचार्यरत्न श्री कनकनन्दीजी एवं प्रो (डॉ.) सोहन राज तातेड़ ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

जब यहाँ दो प्रश्न उठते हैं—(1) यदि शरीर और आत्मा दो हैं, तो आत्मा के अस्तित्व के क्या प्रमाण हैं? (2) शरीर और आत्मा में क्या सम्बन्ध है? इन पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है—

आत्मा के अस्तित्व-सम्बन्धी प्रमाण

जैन धर्म एवं दर्शन में आत्मा के अस्तित्व के लिए निम्नलिखित प्रमाण दिये जाते रहे हैं—

- (1) **आत्मा का साक्षात् ज्ञान**— जब हमें गुणों का प्रत्यक्ष होता है तो उन गुणों के आधार के रूप में पदार्थ का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। उदाहरणार्थ, जब नारंगी के गुणों का प्रत्यक्ष हो जाता है तो इन गुणों को धारण करने वाले पदार्थ (अर्थात् नारंगी) का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। इसी प्रकार, जब हमें सुख, दुःख आदि गुणों का प्रत्यक्षीकरण होता है, तो हमें इन गुणों के आश्रय या आधार के रूप में आत्मा का भी प्रत्यक्ष हो जाता है।
- (2) **शरीर के संचालक के रूप में**— शरीर भी एक प्रकार की मशीन मानी गयी है। पाश्चात्य दार्शनिक हॉब्स ने भी शरीर को यंत्र माना है। मशीन की भाँति शरीर के भी कार्य होते रहते हैं। कभी पैर चलते हैं, तो कभी कान खड़े रहते हैं। कभी जबान खुल जाती है, तो कभी हाथ उठ जाते हैं। अब प्रश्न है—शरीर के विभिन्न अवयवों को सक्रिय बनाने वाला या संचालन कर्ता कौन है? जिस प्रकार मशीन के संचालन के लिए एक संचालक की आवश्यकता पड़ती है, ठीक उसी प्रकार शरीर के संचालन के लिए आत्मा को संचालक मानना अनिवार्य है। तत्त्वार्थ सूत्र के अध्ययन से इस बात की पुष्टि हो जाती है।

- (3) **ज्ञाता के रूप में**— इन्द्रिय और वस्तु के सन्निकर्ष से ज्ञान उत्पन्न होता है। अब प्रश्न उठता है—ज्ञान प्राप्त करनेवाला कौन है? इन्द्रियाँ तो साधन मात्र हैं। इसलिए इन्हें ज्ञान-प्राप्तकर्ता नहीं कहा जा सकता। ज्ञान की प्रकिया को सार्थक बनाने के लिए ज्ञाता को मानना आवश्यक है। यह ज्ञाता निश्चय ही आत्मा या जीव है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस बात की पुष्टि की गई है। यहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है।
- (4) **निमित्त-कारण के रूप में**— केवल उपादान-कारण (material cause) से ही किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसके लिए एक निमित्त-कारण की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ, चाक, मिट्टी, पानी, छड़ी आदि उपादानों (materials) से ही घड़ा आदि उपादानों से ही घड़ा नहीं बन जाता। इसके लिए निमित्त-कारण के रूप में 'कुम्हार' की आवश्यकता पड़ती है। ठीक इसी प्रकार पुद्गलों के संयोग से ही शरीर नहीं बन जाता है। केवल पुद्गलों के संयोग से शरीर विकसित नहीं हो सकता। शरीर की उत्पत्ति और इसके विकास के लिए निमित्त-कारण के रूप में आत्मा का

अस्तित्व मानना आवश्यक है। स्याद् मंजरी में भी इस बात की सम्पुष्टि की गई है।

अब आत्मा और शरीर के बीच पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या के पूर्व आत्मा की विशेषताओं का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है।

आत्मा की विशेषताएँ

जैनधर्म के अनुसार, आत्मा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं।
जैन धर्म ग्रन्थों में आत्मा और जीव समानार्थक शब्द हैं।

(क) जीव का प्रधान लक्षण चैतन्य (consciousness) है। इसमें अन्य वस्तुओं की चेतना (self-consciousness) के साथ-साथ अपने विषय में भी चेतना रहती है।

(ख) जीव ज्ञाता (knower) है, न कि ज्ञेय (object of knowledge) है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस बात की पुष्टि की गई है।

(ग) जीव सक्रिय (active) है, न कि निष्क्रिय। शरीर के संचालन के लिए इसका सक्रिय होना अनिवार्य है। डॉ. सोहन राज तातेड़ ने भी इस बात का जोरदार समर्थन किया है।

(घ) जीव कर्त्ता है। यह अपने कर्मों के द्वारा अपना भाग्य विधाता स्वयं है। द जैन डोक्ट्रीन ऑफ कर्म एण्ड द साइन्स ऑफ जैनेटिक्स में भी इस बात की सम्पुष्टि की गई है।

- (ड.) जीव भोक्ता (enjoyer) हैं। इसे अपने कर्मों का फल भोगना पडता है।
- (च) जीव एक नहीं, अनेक है। न्याय-वैशेषिकों ने भी इस बात की पुष्टि की है।
- (छ) जीव की अवस्थाओं में परिवर्तन न होने पर भी शरीर की भाँति इसे नश्वर नहीं कहा जा सकता।
- (ज) जीव स्थान घेरता है। आत्मा किसी अंग-विशेष में नहीं, बल्कि सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है। इस प्रकार, आत्मा भी स्थान घेरती है। जैन का यह मत देकार्त के मत के प्रतिकूल है। देकार्त के अनुसार, विस्तार शरीर का गुण है, न कि आत्मा का। डॉ. राधाकृष्णन ने भी इस बात की पुष्टि की है।

आत्मा और शरीर के बीच सम्बन्ध

जीव के उपर्युक्त लक्षण में ही आत्मा और शरीर का पास्परिक सम्बन्ध निहित है। आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है। इसे किसी अंग-विशेष में सीमित नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार का शरीर रहता है, उसी प्रकार का जीव भी रहता है। बड़े शरीर में बड़ा जीव और छोटे शरीर में छोटा जीव रहता है। इस प्रकार, आत्मा का आकार अनिश्चित होता है। जिस

प्रकार कोई तरल पदार्थ (जैसे, तेल, पानी इत्यादि) जिस बर्तन में रखा जाता है, उसी प्रकार का आकार ग्रहण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार शरीर के आकार के अनुकूल ही आत्मा का आकार निर्धारित होता है। आचार्य रत्न श्रीकनकनन्दीजी ने भी इस बात की पुष्टि की है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा स्थान घेरती है। शरीर स्थान घेरता है और शरीर में व्याप्त होने के कारण आत्मा भी स्थान घेरती है। अब प्रश्न है—आत्मा स्थान (space) किस प्रकार घेरती हैं? जैन—दर्शन इसका उत्तर अपने ढंग से देता है। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध दो भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध—जैसा नहीं है। आत्मा के विस्तार एवं भौतिक पदार्थ के विस्तार में स्पष्ट अन्तर है। आत्मा का विस्तार शरीर को घेरता नहीं, बल्कि इसकी चेतना शरीर के अंग में होती हैं। जिस प्रकार किसी एक कमरे में अनेक दीपक एक साथ प्रकाश दे सकते हैं, उसी प्रकार एक स्थान को अनेक आत्माएँ एक साथ घेर सकती हैं। जिस प्रकार प्रकाश कमरे के प्रत्येक भाग में व्याप्त रहने पर भी कमरे का अंग नहीं कहा जा सकता, ठीक उसी प्रकार आत्मा शरीर में सर्वत्र व्याप्त रहने पर भी शरीर का अंग नहीं बन जाती।

बन्धन और मोक्ष की अवधारणा

भारतीय दर्शन में बंधन का सामान्य अर्थ जन्म-मरण के चक्कर में पड़कर दुःख झेलना है। जैन-दर्शन भी बंधन (bondage) को इसी अर्थ में ग्रहण करता है। जैन-दर्शन के अनुसार, जीव मूलतः अनन्त चतुष्टय (अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति एवं अनन्त आनन्द) के गुणों से युक्त रहता है। मौलिक रूप में जीव पूर्णतया स्वतन्त्र रहता है। किन्तु शरीर के साथ सम्बद्ध होने से जीव बाधाओं से घिरकर बंधनग्रस्त हो जाता है और अनेक कष्ट झेलता है। इन बाधाओं के हटते ही वह बंधन से मुक्त हो जाता है और वह अनन्त चतुष्टय प्राप्त कर लेता है।

जीव बंधनग्रस्त क्यों होता है? जैन-दर्शन के अनुसार, शरीर धारण करने के कारण ही जीव बंधनग्रस्त होता है। अब प्रश्न है—जीव शरीर धारण क्यों करता है? इसके उत्तर में जैन-विचारक कहते हैं कि कर्मों के कारण ही जीव को शरीर धारण करना पड़ता है। शरीर का निर्माण केवल पुद्गलों के संयोग से नहीं होता। जीव में अन्तर्निहित प्रवृत्तियों के द्वारा ही शरीर का निर्माण होता है। पूर्वजन्म के संस्कारों के अनुकूल ही शरीर का निर्माण होता है। अर्थात्, जीव अपने कर्मों या संस्कारों के वश ही शरीर धारण करता है। पूर्वजन्म के विचार, वचन एवं कर्म जीव में वासनाएँ उत्पन्न करते हैं। वासनाएँ तृप्त होना

चाहती हैं और फलस्वरूप, जीव-पुद्गलों को अपनी ओर आकर्षित करता है। पुद्गलों को आकर्षित करने के कारण विशेष प्रकार का शरीर बनता है। इस प्रकार, शरीर का निमित्त-कारण जीव है और उपादान-कारण पुद्गल है। शरीर से केवल स्थूल शरीर ही नहीं समझना चाहिए, बल्कि छोटी-छोटी इन्द्रियाँ, मन, प्राण भी शरीर के अन्तर्गत आ जाते हैं। के. दामोदरन ने भी इस बात की पुष्टि की है।

उमास्वामी ने बतलाया है कि पूर्वजन्म के कर्म से ही सम्पूर्ण जीवन के कार्य निर्धारित होते हैं। कर्म के अनुसार ही व्यक्ति का जन्म धनी या गरीब, ऊँच या नीच परिवार में होता है। पूर्वजन्म के अनूकूल ही व्यक्ति के शरीर के रूप, रंग, आकार, आयु, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ की संख्या का निर्माण होता है। एवं उनके सभी कर्मों पर हम समष्टि एवं व्यष्टि की दृष्टियों से विचार कर सकते हैं। समष्टि-दृष्टि से कर्म समस्त वासनाओं का समूह है, जिसका फल समस्त धर्म-विशिष्ट शरीर है। किन्तु व्यष्टि-दृष्टि से शरीर का विशेष-धर्म, विशेष-कर्म का फल है। उमास्वामी के अनुसार, कर्मों के कई भेद हैं।

कर्म के प्रकार

जैन दर्शन के अनुसार, सर्वप्रथम कर्म के दो प्रकार हैं—(1) घाती अथवा आत्मा की घात करने वाले (2) अघाती अथवा शरीर को प्रभावित करने वाले। घाती कर्म के भी चार प्रकार हैं—(1) ज्ञानावरणीय कर्म, (2) दर्शनावरणीय कर्म, (3) अन्तराय कर्म और (4) मोहनीय कर्म। अघाती कर्म भी चार प्रकार के हैं—(1) आयुष्य कर्म, (2) नाम कर्म (3) गोत्र कर्म और (4) वेदनीय कर्म।

उपर्युक्त आठ प्रकार के कर्म ही बंधन के कारण हैं। ये जीव को निम्नलिखित रूप से बाधा पहुँचाते हैं—

1. ज्ञानावरणीय कर्म—ये कर्म ज्ञान में बाधक होते हैं।
2. दर्शनावरणीय कर्म—ये कर्म श्रद्धा को नष्ट करते हैं।
3. अन्तराय कर्म—ये कर्म आत्मा की स्वाभाविक शक्ति को रोकते हैं और शुभ कार्य करने में बाधक हैं।
4. मोहनीय कर्म—ये कर्म मोह (भ्रम) उत्पन्न करते हैं।
5. आयुष्य—कर्म— जिन कर्मों से आयु निर्धारित हो उन्हें आयुष्य कर्म कहते हैं।
6. नाम—कर्म—ये कर्म व्यक्ति की गति, जाति, यश—अपयश व शरीर क्रियाओं व अंगों को निर्धारित करते हैं।
7. गोत्र—कर्म— ये उच्च अथवा अथवा निम्न परिवार में जन्म के कारण हैं।

8. वेदनीय कर्म—जो कर्म सुख, दुःख आदि की वेदना (emotion) उत्पन्न करते हैं, उन्हें वेदनीय कर्म कहते हैं। उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट हो जाता है कि जैन-दर्शन कर्मवाद (Theory of Karma) में विश्वास करता है, न कि नियतिवाद (determinism) में। नियतिवाद के अनुसार, व्यक्ति कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं है। जैन-दर्शन इसका विरोध करते हुए कर्मवाद का समर्थन करता है। इसके अनुसार, व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक कर्म करने में स्वतन्त्र है। जीवन शुभ एवं अशुभ कर्मों के फल हैं।

बुरे कर्म क्रोध, मान, माया तथा लोभ—जैसी कुप्रवृत्तियों को उत्पन्न करते हैं। ये कुप्रवृत्तियाँ हमें बन्धन में डालती हैं। इसीलिए कर्म को बन्धन का मूल कारण कहा गया है। इन कुप्रवृत्तियों को 'कषाय' कहा जाता है। कषाय प्रत्येक क्षण कर्मों को अपनी ओर खींचता रहता है। जीव को कषाय से मुक्त होने पर ही कर्मों से छुटकारा मिल सकता है। डॉ. सोहन राज तातेड़ ने भी "द जैन डॉक्ट्रीन्स ऑफ कर्म एण्ड द साइन्स ऑफ जैनेटिक्स" में इस बात की पुष्टि की है। इन्होंने "इनलाइटेंड नॉलेज" में भी इसकी सम्पुष्टि की है।

बंधन के भेद

तत्त्वार्थ सूत्र में बन्धन (bondage) के दो भेद बतलाये गये हैं—भाव—बन्धन (mental bondage) और द्रव्य—बन्धन (actual or material bondage)। मन में बुरे विचारों का होना ही 'भाव—बन्धन' है और जन्म—ग्रहण करना अर्थात् पुद्गलों का जीवों की ओर आकर्षित होना 'द्रव्य—बन्धन' कहलाता है।

जीव और पुद्गलों के संयोग को ही 'आश्रव' कहते हैं। आश्रव बन्धन का मुख्य कारण है। इसलिए बन्धन का अर्थ है—जीव में कषाय के कारण कर्म—पुद्गल का आश्रव। जीव और कर्म—पुद्गल का अलग होना ही मोक्ष (liberation) है।

जीव कर्म—पुद्गल से अलग कैसे हो सकता है? जैन—विचारकों का मत है कि नये पुद्गलों का जीव की ओर बहाव रोकने एवं पुराने पुद्गलों को सम्पूर्ण नष्ट करने से ही जीव कर्म—पुद्गल से छुटकारा पा सकता है। यही मोक्ष की अवस्था है।

मोक्ष (Liberation)

जीव का पूर्ण रूप से पुद्गल से मुक्त होना ही मोक्ष (liberation) कहलाता है। यहाँ जीव में नये पुद्गलों का आश्रव रोकना और पुराने पुद्गलों के प्रवाह का नष्ट होना आवश्यक है। नये पुद्गलों का आश्रव रोकना 'संवर' कहलाता है और पुराने

पुद्गलों के आश्रव को नष्ट करना “निर्जरा” कहलाता है। संवर और निर्जरा का संयुक्त रूप ही मोक्ष (liberation) कहलाता है।

मोक्ष प्राप्ति के उपाय

भगवान महावीर के शिष्य आचार्य गृद्धपिच्छ के अनुसार, सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र मोक्ष—प्राप्ति के मार्ग हैं।² इन तीनों पर अलग—अलग विचार किया जा सकता है।

1. सम्यक् दर्शन (Right Faith)

यहाँ ‘दर्शन’का विशेष अर्थ लिया गया है। तत्त्वज्ञान के प्रति श्रद्धा ही दर्शन है। साधक को तीर्थकरों के उपदेशों में श्रद्धा एवं विश्वास रखना आवश्यक है। यहाँ विश्वास का अर्थ अन्धविश्वास कदापि नहीं होता। जैन—दार्शनिक मणिभद्र का कथन उल्लेखनीय है—“न मेरा जिन् (महावीर आदि) के प्रति कोई पक्षपात है और न कपिल आदि अन्य दार्शनिकों से द्वेष। मैं युक्ति—संगत बातों को ही मानता हूँ चाहे वह जिस किसी की हो।”

सम्यक् दर्शन का समर्थन पाश्चात्य दर्शन में भी मिलता है। किसी भी विषय का अध्ययन करने के लिए कुछ—न—कुछ विश्वास की आवश्यकता पड़ती ही है। प्रत्येक विषय में अविश्वास रखने से काम नहीं चल सकता। संशयवादी (skeptic) विचारक

भी कम-से-कम अपने सिद्धान्तों में तो विश्वास रखते ही हैं। इसी प्रकार, विज्ञान भी कुछ मान्यताओं (presuppositions) में विश्वास रखता है। अतः सम्यक् दर्शन युक्तिसंगत दीख पड़ता है।

2. सम्यक् ज्ञान (Right knowledge)

विश्वास के साथ ज्ञान भी आवश्यक है। अज्ञान ही बन्धन का कारण है, इसलिए ज्ञान से ही मुक्ति मिल सकती है। ज्ञान का यहाँ अर्थ है— वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान होना। जीव और अजीव का अन्तर समझना आवश्यक है। इस अन्तर का ज्ञान न होने के कारण पुद्गल कणों का आश्रव होता है। इसलिए आश्रव को रोकने के लिए ज्ञान आवश्यक माना गया है। डॉ. सोहन राज तातेड़ ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

3. सम्यक् चारित्र (Right Conduct)

ज्ञान और विश्वास सैद्धान्तिक (theoretical) हैं। ज्ञान और विश्वास को कार्य रूप में परिणत करना आवश्यक है। इसके लिए सम्यक् चारित्र आवश्यक है। द्रव्यसंग्रह (श्लोक 46) में कहा गया है कि बुरे कर्मों का परित्याग एवं उचित कर्मों का आचरण ही सम्यक् चारित्र है। अपने जीवन को विश्वास एवं ज्ञान के ढाँचे में ढालना आवश्यक है।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र तीनों ही मोक्ष प्राप्ति के लिए रत्न की भाँति बहुमूल्य हैं। इसलिए इन्हें जैन-दर्शन में 'त्रिरत्न' कहते हैं। इन तीनों में सम्यक् दर्शन सबसे अधिक प्रारंभिक है। विश्वास एवं श्रद्धा ही व्यक्ति के विकास का आरम्भ-बिन्दु है। तब ज्ञान का उदय होता है और अन्त में विश्वास एवं ज्ञान के अनुकूल व्यक्ति का चारित्र सुधरता है।

सम्यक् चारित्र (right conduct) के लिए जैन-दर्शन में कई व्रतों के पालन का संकेत किया गया है। सभी व्रतों पर जैन-विचारक सहमत नहीं हैं। किन्तु 'पंच महाव्रत' को सभी जैनी-स्वीकार करते हैं। पंच महाव्रत को भारतीय दर्शन में अनेक दार्शनिकों ने किसी-न-किसी रूप में अपनाया है। बौद्ध धर्म में इसे 'पंचशील' कहा जाता है। चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी भारतीय विचारक इन पाँच व्रतों को सम्यक् चारित्र के लिए आवश्यक मानते हैं।

पंच महाव्रत (five great vows) के अन्तर्गत पाँच व्रत रखे जाते हैं—अहिंसा (non-violence), सत्य (truthfulness), अस्तेय (non-stealing), अपरिग्रह (non-possession) और ब्रह्मचर्य (self-control)। इन पाँचों व्रतों (vows) पर अलग-अलग विचार करना आवश्यक है।

1. अहिंसा (Non-Violence)

हिंसा का अर्थ किसी जीव को कष्ट पहुँचाना है। हँसी-मजाक में भी किसी को कष्टदायक बातें नहीं कहनी चाहिए। अहिंसा का पालन मन, कर्म और वचन तीनों से होना चाहिए। अहिंसा के विषय में सोचना, बोलना एवं इसके लिए दूसरों को प्रोत्साहित करना अहिंसा के अन्तर्गत आते हैं। अहिंसा के पक्ष में एक सबल तर्क यह है—“दूसरे जीवों के प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा कि हम उनसे अपने प्रति चाहते हैं।” प्रायः सभी जीवों की मानसिक प्रवृत्ति यही रहती है कि कोई उन्हें कष्ट नहीं पहुँचाये। हमें भी चाहिए कि किसी को कोई दुःख न दें। जैन-दर्शन में अहिंसा को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है।

2. सत्य (Truthfulness)

सत्य का पालन एवं असत्य का परित्याग भी एक पवित्र व्रत है। असत्य हमें जीवन की ऊँचाई से नीचे गिराता है। सत्य हमारे जीवन को उन्नत बनाने का उत्तम साधन है। ईर्ष्या, द्वेष, मोह, माया, लोभ इत्यादि के वशीभूत होकर हम मिथ्या-भाषण के शिकार होते हैं। असत्य हमें बन्धन में डालता है। इसलिए असत्य का परित्याग एवं सत्य को अपनाना आवश्यक है।

सत्य मधुर होना चाहिए। कटु सत्य भी नहीं बोलना चाहिए। 'अन्धे को अन्धा कहना' कटु सत्य है। ऐसे सत्य-भाषण से किसी को दुःख पहुँच सकता है। इसलिए सत्य के साथ-साथ इसे प्रियभाषी होना भी आवश्यक है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि असत्य यदि प्रिय हो तो उसे बोलना चाहिए। असत्य सदैव असत्य है और इसका परित्याग हर हालत में होना चाहिए। सर्वदर्शन संग्रह में भी इस बात की पुष्टि की गई है।

3. अस्तेय (Non-stealing)

किसी व्यक्ति की मर्जी के बिना उसका द्रव्य ग्रहण करना स्तेय (stealing) है। अतः अस्तेय का अर्थ है— बिना किसी की मर्जी के किसी का धन (वस्तु) नहीं लेना। जैन-दर्शन धन को मनुष्य का बाह्य जीवन समझता है। इसलिए किसी का धन अपहरण करना उसकी जान लेने के बराबर है। बिना किसी की अनुमति के न तो उसका धन ग्रहण करना चाहिए और न आवश्यकता से अधिक धन रखना चाहिए। महात्मा गाँधी के अनुसार, आवश्यकता से अधिक धन रखना चोरी है। इसलिए हमें अपनी आवश्यकता के अनुकूल ही धन कमाना चाहिए।

4. अपरिग्रह (Non-acceptance)

विषयासक्ति का परित्याग ही अपरिग्रह है। इस व्रत के पालन के लिए इन्द्रिय-सुख उत्पन्न करनेवाली वस्तुओं का परित्याग करना पड़ता है। सांसारिक विषयों में रूप, गन्ध, रस, स्पर्श आदि रहते हैं जो व्यक्ति को आसक्त बनाते हैं। सांसारिक विषयों में आसक्त व्यक्ति बन्धन-ग्रस्त रहता है। इसलिए मोक्ष की प्राप्ति के लिए रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषयों का परित्याग आवश्यक है। डॉ. राधाकृष्णन ने भी भारतीय दर्शन के प्रथम भाग में इस बात की सम्पुष्टि की है।

5. ब्रह्मचर्य (Self-control)

वासनाओं का त्याग और इन्द्रियों पर नियन्त्रण ही ब्रह्मचर्य हैं। कामवासना के त्याग के साथ-ही-साथ इन्द्रियों को नियन्त्रित रखना ब्रह्मचर्य की आवश्यक शर्त है। वासनाओं एवं कामनाओं के वशीभूत होकर व्यक्ति अनेक कुकर्म करता रहता है। जैन-विचारक सभी प्रकार की कामनाओं (मानसिक अथवा बाह्य, लौकिक अथवा पारलौकिक, स्वार्थ अथवा परमार्थ) का पूर्ण परित्याग ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक बतलाते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन मनसा, वाचा, कर्मणा (मन, वचन और कर्म) से होना चाहिए।

उपर्युक्त महाव्रतों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। इनमें से किसी भी व्रत की उपेक्षा करके अन्य व्रतों का पालन असम्भव है। ये पाँच महाव्रत अपने-आप में पूर्ण एवं परस्पर सम्बद्ध हैं। इन्हें एक साथ पालन करने से मोक्ष प्राप्ति में सुविधा होती है। इन महाव्रतों के पालन से नये कर्मों का आश्रव रूक जाता है और पुराने कर्मों का पूर्ण नाश हो जाता है। यही मोक्ष (liberation) की अवस्था है। मोक्ष प्राप्त जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य तथा अनन्त सुख प्राप्त कर लेता है। डॉ. सोहन राज तातेड़ ने अपनी पुस्तक "द जैन डॉक्ट्रीन ऑफ कर्म एण्ड द साइन्स ऑफ जैनटिक्स में भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

जैन-दर्शन में मोक्ष के दोनों पक्षों (भावनात्मक और निषेधात्मक) पर जोर दिया गया है। मोक्ष का निषेधात्मक पक्ष दुःखरहित अवस्था है। इसका भावात्मक पक्ष अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति की अवस्था है। माधवाचार्य ने भी इस बात की पुष्टि की है।

जैन धर्म में ईश्वर का स्थान या जैन धर्म का अनीश्वरवाद

जैन धर्म में ईश्वरवाद (theism) का खण्डन हुआ है। यहाँ ईश्वर नामक सत्ता का पूर्ण अभाव पाया जाता है। ईश्वर के

अस्तित्व के लिए दिये गये प्रमाण की त्रुटियों पर जैन धर्म प्रकाश डालता है।

न्याय-दर्शन ईश्वर के अस्तित्व के लिए यह प्रमाण देता है—प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है। विश्व एक कार्य है, इसलिए इसका भी कारण अवश्य होगा और यह ईश्वर हैं। जैनों का इसके विरुद्ध यह आक्षेप है कि यहाँ विश्व को एक कार्य के रूप में यों ही मान लिया गया है। विश्व को कार्य (event या effect) मानने का न्याय के पास कोई युक्तिसंगत आधार नहीं हैं।

नैयायिक विश्व को सावयव (having parts) होने के कारण कार्य मानते हैं। जैनियों के अनुसार, ऐसा विचार ही दोषपूर्ण है। नैयायिक स्वयं आकाश को सावयव होने पर भी कार्य नहीं मानते। इनके अनुसार, आकाश नित्य द्रव्य है। इसलिए सावयव होने के कारण विश्व को एक कार्य बतलाना नैयायिकों को शोभा नहीं देता। ईश्वर को विश्वरूपी कार्य का कारण मानने में जैनों को एक कठिनाई दीख पड़ती है। किसी कार्य का कर्त्ता शरीरयुक्त होता है। जैसे घड़े का निर्माता कुम्हार शरीरयुक्त प्राणी है। इसलिए विश्व के कर्त्ता के रूप में ईश्वर को सशरीरी मानना आवश्यक है। किन्तु ईश्वर निरवयव (partless) माना जाता

है। इस प्रकार, अवयवहीन ईश्वर को विश्वरूपी कार्य का कर्त्ता या कारण नहीं कहा जा सकता है।

यदि ईश्वर को विश्व का कर्त्ता मान भी लिया जाय तो प्रश्न उठता है—ईश्वर ने किस प्रयोजन से इस विश्व की रचना की? साधारणतः व्यक्ति जब कोई रचना करता है तो वह किसी स्वार्थ—भावना या करुणा से प्रेरित होकर ही ऐसा करता है। ईश्वर द्वारा स्वार्थ—भावना से प्रेरित होकर विश्व की रचना की बात अग्राह्य है। ईश्वर पूर्ण है। उसकी कोई भी इच्छा अतृप्त नहीं है। इसलिए वह स्वार्थ—भावना से परे हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि स्वार्थवश वह विश्व की रचना करता है। करुणावश भी वह विश्व की रचना नहीं कर सकता। करुणा का अर्थ है—दूसरों के प्रतिदया करना। यानी दूसरों के दुःख को देखकर उनके प्रति सहानुभूति की कल्पना निराधार एवं युक्ति रहित है। इसलिए स्वार्थ—भावना या करुणा से प्रेरित होकर ईश्वर द्वारा विश्व की रचना की बात में कोई तथ्य नहीं है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर जैन धर्म ईश्वरवाद का खण्डन करता है। ईश्वर के अस्तित्व के साथ—ही—साथ वह ईश्वर के गुणों का भी खण्डन करता है। सभी वस्तुओं का निर्माता होने के कारण उसे शाक्तिशाली (all-powerful) कहा

जाता है। जैनियों का कहना है कि विश्व में ऐसे अनेक पदार्थ हैं, जिनका निर्माता ईश्वर को नहीं कहा जा सकता। इसलिए उसे सर्वशक्तिशाली कहना अनुचित है। के. दामोदरन, देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, राहुल सांस्कृत्यायन आदि ने भी इस बात की पुष्टि है।

ईश्वर को एक माना गया है। इसके पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि अनेक ईश्वरों को मानने से विश्व में व्याख्या एवं सामंजस्य की व्याख्या नहीं हो सकती। इस तर्क के विरुद्ध जैनियों का कहना है कि जिस प्रकार महल के निर्माण में अनेक शिल्पकारों की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार विश्व के निर्माण में अनेक ईश्वरों को मानने में क्या हर्ज है? इसका उत्तर ईश्वरवासियों के पास नहीं है। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने भी डिस्कवरी ऑफ इन्डिया में इस बात की पुष्टि की है।

जैन धर्म के अनुसार, मानव प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ रचना है। मानव के परे किसी अन्य श्रेष्ठ सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। इसके रचयिता के रूप में ईश्वर की सत्ता में विश्वास निराधार है। मानव और विश्व की प्रत्येक वस्तु का कारण, जैनियों के अनुसार, द्रव्य है। द्रव्य संख्या में छह हैं—दिक् (space), काल (time), भूत (matter), जीव (soul), क्रिया (action) और निष्क्रियता

(inaction)। इन्हीं छह द्रव्यों के पारस्परिक संयोग एवं सम्मिश्रण के कारण विश्व की वस्तुओं एवं मानव की उत्पत्ति होती है। जैन धर्म के अनुसार, विश्व की उत्पत्ति एवं इसके विकास की व्याख्या के लिए ईश्वर को मानना निरर्थक है। के. दामोदरन, राहुल सांकृत्यायन, देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय आदि ने भी इस बात की पुष्टि की है।

सैद्धान्तिक रूप में जैन धर्म अनीश्वरवादी (atheist) है। किन्तु व्यावहारिक रूप में इसे ईश्वरवादी कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। यह एक ऐसी सत्ता या शक्ति में विश्वास रखता है जो सर्वशक्तिशाली एवं सर्वव्यापी है। यहाँ सिद्ध जीव अर्थात् तीर्थंकर ही ईश्वर का रूप ले लेते हैं। ये तीर्थंकर मुक्त (liberated or free soul) जीव हैं। इनमें अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति एवं अनन्त सुख विद्यमान है। इन्होंने राग-द्वेष, जन्म-मरण एवं अन्य सांसारिक वासनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है। इन तीर्थंकरों की शानदार पूजा जैन धर्म में होती है। इनकी मूर्तियाँ प्रत्येक जैनी के लिए श्रद्धा एवं आराधना का विषय है।

इस प्रकार, तीर्थंकरों को ही यहाँ ईश्वर का रूप दे दिया गया है। जैनधर्म के अनुसार, "जो सर्व ज्ञाता हैं, सांसारिक प्रेम तथा असफलता से मुक्त है, तीनों लोकों में पूज्य है और अपनी

आन्तरिक व्याख्या वास्वतिक रूप में कर सकते हैं, वे ही धर्म के लिए महान् ईश्वर है”³ उमास्वामी ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म सैद्धान्तिक रूप से निरीश्वरवाद का समर्थन करता है, किन्तु व्यावहारिक रूप में ईश्वर को तीर्थकरों के रूप में अपनाकर उनकी पूजा करता है। किन्तु इस सम्बन्ध में हमें स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ अपनी आत्मा के यथार्थ स्वरूप को पहचान से ही मोक्ष अथवा कैवल्य का मार्ग प्रशस्त होता है, तीर्थकरों की भक्ति से नहीं। पञ्चचास्तिकाय समयसार में भी इस बात की सम्पुष्टि की गई है। इस सम्बन्ध में डॉ. राधाकृष्णन ने इन्डियन फिलॉसॉफी के प्रथम भाग में ठीक ही लिखा है— समाधि द्वारा अथवा ‘जिन’ की आराधना से आत्मा अवश्य पवित्र होती है।” अतः जैन धर्म निरीश्वरवादी धर्म न होकर ईश्वरवादी धर्म बन जाता है।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म (Jainism and Buddhism)—दोनों ही धर्मों का विकास साथ-साथ हुआ है। दोनों में समानताएँ और अन्तर पाये जाते हैं।

समानताएँ (Similarities)

- (1) दोनों ही धर्म वैदिक धर्म के विरोध के फलस्वरूप उत्पन्न एवं विकसित हुए हैं। दोनों ने ही ब्राह्मण धर्म एवं वेदों की आलोचना की है। वैदिककाल में धर्म में पाये जानेवाले अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता एवं कुकर्मा के विरोध में दोनों ने बुलन्द आवाज उठायी है। वैदिक धर्म की असंगतियों एवं त्रुटियों को दूर करने की दोनों धर्मों ने भरपूर कोशिश की है। जे. एन. सिन्हा एवं डॉ. राधाकृष्णन ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।
- (2) दोनों ही धर्मों ने सैद्धान्तिक स्तर पर ईश्वरवाद का विरोध किया है। ईश्वर नाम की किसी सत्ता में यहाँ विश्वास का पूर्ण अभाव है। जैनियों ने ईश्वर के पक्ष में दिये जाने वाले तर्कों की आलोचना की है। बौद्ध धर्म में ईश्वर के विषय में कुछ भी कहने से इन्कार किया गया है। इस प्रकार, दोनों ही धर्मों में इनके प्रवर्तकों की मृत्यु के बाद ईश्वर का विचार आ गया है। बुद्ध की मृत्यु के बाद बौद्धों ने बुद्ध को ही ईश्वर मान लिया । इसी प्रकार, महावीर की मृत्यु के बाद महावीर और अन्य तीर्थकरों की मृत्यु के बाद उनको ईश्वर का रूप दे दिया गया है। अन्यत्र भी जैन धर्म के प्रवर्तक ऋषभदेव को ईश्वर माना गया है।

- (3) दोनों ही धर्मों में नैतिकता (morality) पर विशेष जोर दिया गया है। बौद्धों का 'आष्टांगिक मार्ग' और जैनों का 'त्रिरत्न' उच्च कोटि की नैतिकता प्रस्तुत करते हैं। महात्मा बुद्ध का सारा जीवन लोक-कल्याण के कार्य में संलग्न था। इसी प्रकार, महावीर ने भी नैतिक कार्यों में अत्यधिक दिलचस्पी दिखलायी थी। दोनों ही धर्म के अनुयायी नैतिकता को सर्वोपरि महत्त्व देते हैं। डॉ. राधाकृष्णन ने इस बात का जोरदार समर्थन किया है। आचार्य रत्न कनकनन्दीजी एवं डॉ. सोहन राज तातेड़ ने भी चरित्र पर अत्यधिक बल दिया है। यह सर्वोच्च नैतिकता का द्योतक है।
- (4) दोनों ही धर्म बौद्धिक हैं। यहाँ किसी भी विषय को ग्रहण करने से पूर्व उसकी बौद्धिक छान-बीन कर लेना आवश्यक माना जाता है। जाति-प्रथा का कोई बौद्धिक आधार नहीं है, इसलिए इसे दोनों ही धर्म अग्राह्य बतलाते हैं। किसी भी व्यक्ति को जाति के आधार पर ऊँच या नीच नहीं कहा जा सकता। कर्म के आधार पर ही व्यक्ति को श्रेष्ठ या हेय माना जा सकता है। यही बात हिन्दू धर्म में भी कही जाती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि बौद्ध

और जैन धर्म हिन्दू धर्म की नकल करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि दोनों ही धर्म बुद्धि की कसौटी पर जाँचकर ही किसी विषय को ग्रहण करते हैं। किसी भी विषय को केवल इसी कारण सत्य नहीं कहा जा सकता कि इसे अन्य विद्वानों का समर्थन प्राप्त है। बौद्ध और जैन-विचारक बौद्धिक स्तर पर सन्तोषप्रद विषय को ही सत्य मानने की सलाह देते रहे हैं।

- (5) दोनों ही धर्मों में अहिंसा (non-violence) को परम नैतिक कर्म बतलाया है। वैदिक धर्म में प्रचलित बलि-प्रथा का दोनों ने घोर विरोध किया है। दोनों के अनुसार, प्रत्येक जीव समान है, इसलिए किसी भी जीव को कोई हानि पहुँचाना सर्वथा वर्जित है। महात्मा गाँधीजी, जवाहर लाल नेहरू, विनोबा भावे, आचार्यरत्न श्री कनकनन्दी जी ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।
- (6) दोनों ही धर्म हिन्दू धर्म के अंग हैं। इन धर्मों में हिन्दू धर्म की कुरीतियों, त्रुटियों को दूर करने का प्रयास किया गया है। ये दोनों धर्म हिन्दू धर्म के प्रभाव से ओत:प्रोत हैं। इन्हें हिन्दू धर्म से पूर्णतया पृथक् करके नहीं सोचा जा सकता। डॉ. राधकृष्णन ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

(7) दोनों ही धर्म व्यक्ति-विशेष की देन हैं। बुद्ध बौद्ध धर्म के प्रवर्तक हैं और ऋषभदेव जैन धर्म के प्रवर्तक हैं और महावीर इसके अन्तिम, तीर्थकर हैं। ये बुद्ध के समकालीन हैं। बुद्ध और महावीर दोनों को गृह त्याग करना पड़ा और समस्याओं से जूझना पड़ा। दोनों की प्रासंगिकता ज्यों को त्यों है।

दोनों में उपर्युक्त समानताओं के बावजूद बौद्ध धर्म और जैन धर्म में कई मौलिक अन्तर हैं। कुछ अन्तर इस प्रकार हैं—

(1) तत्त्वशास्त्र के विषय में दोनों धर्मों में स्पष्ट अन्तर दीख पड़ता है। बौद्ध-धर्म के अनुसार, विश्व की सभी वस्तुएँ क्षणिक एवं नश्वर हैं। यह क्षणिकवाद का समर्थन करता है। इसके अनुसार, विश्व में कुछ भी नित्य (eternal) नहीं है। इसके विपरीत, जैन ग्रन्थों में विश्व की कुछ वस्तुओं को नित्य और कुछ वस्तुओं को क्षणिक बतलाया गया है। इस प्रकार, यह क्षणिकवाद और नित्यवाद दोनों का समर्थन करता है। इस प्रकार, तत्त्वशास्त्र को लेकर दोनों में अन्तर आ जाता है। जे. एन. सिन्हा एवं दासगुप्त ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है। दासगुप्त के शब्दों में,

"Like Jainism, Buddhism also began first with the rules of training the body and mind in order to get rid of miseries as derived from the direct teaching of Gautam Buddha. Later on his followers involved a system of philosophical thought out of his experiences and discourses, notwithstanding the radical differences in their philosophical notions. Jainism and Buddhism which were originally both orders of monks outside the pale of Brahmanism present some resemblance in outer world appearance and with Jainism through inadequate samples of Jaina literature (a History of Indian Philosophy, Vol. I by Das Gupta).

The main difference of Jains from Buddhists is the theory of perception, lies as we have already seen in this that the Jain thinks easily persuaded themselves that it was an off shot of Buddhism. They commit the same mistake that perception reveals to us the external objects just as they are with most of the diverse characteristics of the Buddhist pali scriptures contain three different collection – the sutta (relative to the doctrines of vinay), relating to the discipline and the abhidham relating generally to the same subjects as the suttas but dealing with them in a scholastic and technical manner.

- (2) दोनों के नीतिशास्त्र-सम्बन्धी विचारों में भी अन्तर हैं। बौद्ध धर्म मध्यम-मार्ग (middle path) अपनाने की सलाह देता है। इसके अनुसार, इन्द्रियों का दमन नहीं, बल्कि इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। इसके विपरीत, जैन धर्म नीतिशास्त्र में कठोरतावाद (rigorism) का समर्थक है। इसके अनुसार, हमें इन्द्रियों को निर्ममतापूर्वक कुचल देना चाहिए। जर्मन दार्शनिक कान्ट ने भी इस बात की पुष्टि की है। इन्द्रियों का दमन करना मोक्ष-प्राप्ति के लिए जैन धर्म में आवश्यक बतलाया गया है। इन्द्रिय-सुखों के नाश के बिना मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है।
- (3) दोनों में मोक्ष-सम्बन्धी विचारों को लेकर भी अन्तर हो जाता है। जैन-धर्म व्यक्तिगत मोक्ष (individual salvation) में विश्वास रखता है। व्यक्ति अपने ही प्रयास से 'त्रिरत्न' का पालन करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है, यही जैन धर्म का मत है। किन्तु बौद्ध धर्म के अनुसार, जब तक सभी प्राणी मुक्त नहीं होते तब तक व्यक्तिगत मोक्ष का कोई अर्थ नहीं होता। सारे विश्व के मुक्त होने पर ही व्यक्ति को वास्तविक मोक्ष मिल सकता है। महायानियों ने इस

बात का जोरदार समर्थन किया है। इसका असर रामायण पर भी है। रामायण में भी राम के साथ साथ अयोध्यावासियों ने भी मुक्ति प्राप्त की है। रामचरित मानस में भी इस बात की पुष्टि की गई है।

- (4) मोक्ष-प्राप्ति के लिए दोनों धर्मों ने अलग-अलग मार्ग बतलाया हैं। बौद्ध-धर्म ने कर्मवाद में विश्वास रखने के कारण कर्म को मोक्ष का साधन बतलाया है। दूसरी ओर, जैन धर्म कर्म को मोक्ष की प्राप्ति में बाधक मानता है। इसलिए यह संन्यास पर अधिक जोर देता है। किन्तु बौद्ध धर्म ने जीवन में कर्मों को मोक्ष के लिए आवश्यक बतलाया है। जैन ग्रन्थों में बिल्कुल कर्म से मुक्त होने की बात बतलाई गई है।
- (5) आत्मा के स्वरूप को लेकर दोनों धर्मों में अन्तर दीख पड़ता है। बौद्ध-धर्म स्थायी एवं नित्य सत्ता के रूप में आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानता है। यह अनात्मवाद (the theory of not-self) में विश्वास रखता है। इसके विपरीत, जैन धर्म आत्मा की सत्ता में विश्वास रखता है। तत्त्वार्थसूत्र में नित्य आत्मा की सत्ता का समर्थन किया गया है।

(6) जड़ को लेकर भी दोनों धर्मों में विभिन्नता पायी जाती है।
बौद्ध धर्म जड़ (matter) का खंडन करता है; किन्तु जैन धर्म जड़ की सत्ता स्वीकार करता है। जे. एन. सिन्हा ने भी इस बात की पुष्टि की है।

उपर्युक्त अन्तरों के रहने पर भी बौद्ध और जैनधर्मों, में निकटता का सम्बन्ध है। दोनों को जुड़वा धर्म अथवा दर्शन माना जाता है। जैसे न्याय और वैशेषिक दर्शन को एलाइड सिस्टम कहा गया है उसी तरह इन दोनों को एलाइड कहा जा सकता है। दोनों ही हिन्दू धर्म के दो आवश्यक अंश हैं।

जैन धर्म और हिन्दू धर्म (Jainism and Hinduism)

जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर महावीर का जन्म, लालन—पालन एवं विकास हिन्दू परम्परा में ही हुआ। इनके धर्म पर हिन्दू धर्म की छाप स्पष्ट नजर आती है। हिन्दू धर्म की त्रुटियों एवं बुराइयों को दूर करने के विचार से ही इन्होंने जैन धर्म को समृद्ध बनाया है। जैन धर्म को हिन्दू धर्म से अलग नहीं किया जा सकता। दोनों ही धर्मावलम्बी आपस में एकता एवं अपनापन का अनुभव करते हैं। महावीर ने हिन्दू धर्म के विरुद्ध घृणा का भाव नहीं दिखलाया। उनके विचारों पर हिन्दू धर्म की स्पष्ट छाप दीख पड़ती है। वेद, उपनिषद् आदि दोनों ही धर्मों के

लिए प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। यही कारण है कि महावीर को जैनियों के साथ-साथ हिन्दू भी श्रद्धा एवं आराधना का विषय मानते हैं।

जैन धर्म और हिन्दू धर्म में अपनापन का भाव होने पर भी दोनों में कुछ अन्तर भी हैं। कुछ प्रमुख अन्तर इस प्रकार हैं—

- (1) हिन्दू धर्म ईश्वरवादी धर्म है। इसमें ईश्वर के अस्तित्व का जोरदार समर्थन किया गया है। ईश्वर के विभिन्न गुणों की विशद व्याख्या की गयी है। इसके विपरीत, जैन धर्म ईश्वर के अस्तित्व का खंडन करता है। यह निरीश्वरवादी दर्शन है। इसमें ईश्वर का अभाव पाया जाता है। यह बात दूसरी है कि महावीर की मृत्यु के बाद जैन धर्मावलम्बी महावीर को ही ईश्वर मानकर पूजने लगे।
- (2) हिन्दू धर्म में पशुओं की बलि-प्रथा पायी जाती है। हिन्दूओं के ऋषि-मुनियों ने बलि-प्रथा का समर्थन किया है। किन्तु जैन धर्म कट्टर अहिंसावादी है इसमें किसी भी जीव की हिंसा का विरोध किया गया है। पशुओं की बलि या अन्य किसी जीव की हत्या को जैनियों ने धर्म-विरुद्ध घोषित किया है। इस प्रकार, जैन धर्म में हिन्दू धर्म की अपेक्षा अहिंसा पर अधिक जोर दिया गया है।

(3) हिन्दू धर्म में जाति-प्रथा एवं वर्णाश्रम धर्म पर विशेष जोर दिया गया है। किन्तु जैन धर्म में सभी मनुष्यों को (बिना जाति और वर्ण के विचार के) समान माना गया है। इस प्रकार जैन धर्म जाति-प्रथा को नहीं मानता।

क्या जैनधर्म वस्तुतः एक धर्म है? इस प्रश्न के दो उत्तर दिये जाते हैं। कुछ लोग इसे धर्म की कोटि में नहीं रखते और कुछ लोग इसे उच्च कोटि का धर्म मानते हैं। इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। इस प्रश्न का सही समाधान ढूँढने के लिए सर्वप्रथम धर्म के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है।

धर्म के लिए सर्वप्रथम एक सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ एवं असीम सत्ता में विश्वास आवश्यक है। यह सत्ता निश्चय ही ईश्वर है। मानव अपने को अपूर्ण, ससीम एवं असहाय पाकर एक ईश्वर की कल्पना करता है, जो पूर्ण, असीम एवं सर्वशक्तिशाली होने के साथ-ही-साथ उसकी माँगों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार कर सकता हो।

धर्म की दूसरी आवश्यक शर्त पुनर्जन्म में विश्वास (belief in rebirth) है। धर्म के अनुसार, वर्तमान जीवन को ही सब कुछ

नहीं कहा जा सकता। इसके बाद भी आत्मा को पुनः जन्म धारण करना पड़ता है।

धर्म के लिए नीतिशास्त्र की आवश्यकता पड़ती है। नीतिशास्त्र के आधार पर ही किसी धर्म में मानवीय कर्मों का मूल्यांकन किया जाता है।

धर्म की चौथी शर्त है आत्मा की नित्यता (the eternity of the soul) में विश्वास। आत्मा अमर है। शरीर के विनाश से इसकी नित्यता पर कोई आँच नहीं आती। यदि आत्मा की नित्यता में विश्वास न किया जाए तो फिर मोक्ष की प्राप्ति किसे होगी? आत्मा की नित्यता के अभाव में आत्मा के विकास का भी कोई अर्थ नहीं होता। इसलिए धर्म में आत्मा के विकास और मोक्ष की भावना को सार्थक बनाने के लिए आत्मा को नित्य (eternal) मानना आवश्यक है।

अब हम देखेंगे कि जैन धर्म में धर्म के उपर्युक्त लक्षण विद्यमान है कि नहीं। जिस प्रकार ईश्वरवादी धर्मों में ईश्वर की कल्पना की गयी है, उस प्रकार का विचार जैनधर्म में नहीं मिलता। ईश्वरवादी ईश्वर को एक, सर्वशाक्तशाली, असीम एवं सर्वज्ञ सत्ता के रूप में मानते हैं। यह ईश्वर आराधना का विषय है। जैन धर्म में ईश्वर के विचार का सर्वथा अभाव है। इसीलिये

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकश नामक पुस्तक में बौद्धों के साथ-साथ जैनियों की भी आलोचना की है। जैन ग्रन्थों में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करनेवाली युक्तियों का खंडन किया गया है। इसलिए कुछ लोगों का मत है कि जैन धर्म को वास्तव में धर्म नहीं कहा जा सकता।

जैन धर्म को निरीश्वरवादी होने के कारण धर्म न मानना अनुचित है। ईश्वर के स्थान पर यहाँ मूल्यों (values) की आराधना की जाती है। हॉफडिंग के अनुसार, "धर्म मूल्यों के संरक्षण में विश्वास है" (Religion is faith in the conservation of value.) इस अर्थ में निरीश्वरवादी होने पर भी जैन धर्म को धर्म कहने में कोई हर्ज नहीं है।

जैन धर्म को कुछ लोग निरीश्वरवादी मानने को तैयार नहीं है। जैन धर्म के प्रारंभिक रूप में प्राकृतिक वस्तुओं की पूजा की जाती थी। इस अर्थ में इसे प्रकृतिवादी कहा जा सकता है। इसकी विकसित अवस्था में तीर्थंकर अर्थात् मुक्त जीव को ईश्वर के रूप में ग्रहण किया गया। महावीर की मृत्यु के बाद महावीर को ही धर्म के अनुयायियों ने ईश्वर मान लिया और इनकी आराधना होने लगी। इस प्रकार, यहाँ तीर्थंकर एवं महावीर के रूप में ईश्वर की स्थापना हो जाती है। इसलिए जैन धर्म को

निरीश्वरवादी बतलाकर धर्म की श्रेणी से अलग करना सरासर अन्याय है। के. दामोदरन, डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त आदि ने भी इस बात की पुष्टि की है।

जैन धर्म केवल वर्तमान जीवन को ही सर्वस्व नहीं मानता। जैन धर्म के विचार से भूत, वर्तमान और भावी तीनों जीवन महत्त्वपूर्ण हैं। आत्मा को कर्म के अनुसार, बार-बार जन्म लेना और मरना पड़ता है। इस प्रकार, जैन धर्म को पुनर्जन्म (rebirth) में विश्वास रखने के कारण धर्म की कोटि में रखा जा सकता है।

जैन धर्म का आचारशास्त्र या नीतिशास्त्र (Ethics) अत्यधिक सबल कहा जा सकता है। यहाँ उच्च कोटि की नैतिकता का दर्शन होता है। इसलिए धर्म की इस आवश्यक मान्यता को धारण करने के कारण जैन धर्म को वस्तुतः धर्म कहा जा सकता है।

आत्मा की नित्यता में जैन धर्म अटूट विश्वास रखता है। आत्मा का कभी नाश नहीं होता। आत्मा की अमरता में विश्वास रखने से धर्म की आवश्यक शर्त की पूर्ति जैन धर्म में हो जाती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म धर्म की उपर्युक्त सभी शर्तों का पालन करता है। इसलिए इसे धर्म कहने में कोई अनौचित्य नहीं है। विश्व के महान् धर्मों में इसकी गणना होती है। अतः जैन धर्म को वास्तव में धर्म कहा जा सकता है। हरिमोहन झा, सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, सी.डी. शर्मा ने भी इस बात की पुष्टि की है। किन्तु नैयायिकों ने इन्हें नास्तिक माना है। प्रसिद्ध ईश्वरवादी दार्शनिक उदयणाचार्य ने बौद्धों और जैनियों की आलोचना की है। दयानन्द सरस्वती ने भी दोनों मत की आलोचना की है। किन्तु डॉ. राधाकृष्णन ने दोनों को धार्मिक एवं नैतिक माना है।

References

1. "गुणपर्यायवादं द्रव्यमं" – गृद्धपिच्छ-रचित 'तत्त्वार्थ सूत्र', 5038।
2. "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।"
3. "He who is omniscient, free from all love of the world, and from all failing, he who is worshipped by the three worlds and who explains the inner meaning of religion as it exists, this adorable deity is the great God".

अध्याय-2

बौद्ध धर्म

(Buddhism)

बुद्ध के समय में तत्त्वशास्त्र (Metaphysics) की तूती बोलती थी। तत्त्वशास्त्र में आत्मा, विश्व एवं ईश्वर का अध्ययन किया जाता है। जब भी इन विषयों पर बुद्ध से प्रश्न पूछे गये, उन्होंने मौन भाव दिखलाया। इससे इन तत्त्वशास्त्रीय विषयों के प्रति उनकी उदासीनता (Indifference) दीख पड़ती है। वस्तुतः भगवान बुद्ध का झुकाव मुख्य रूप से नैतिक है और इसलिये परमसत् का नैतिक पक्ष एवं उसकी धर्म भावना का स्वरूप उन्हें सबसे अधिक आकर्षित करता रहा है। उपनिषदों में जो स्थान ब्रह्म को दिया गया है, बुद्ध ने वही स्थान धर्म को दिया है। धर्म सब वस्तुओं को वश में रखता है। डॉ. राधाकृष्णन ने भी इस बात की पुष्टि की है। संभवतः इसीलिये तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों पर वे मौन हो जाते थे। निम्नलिखित दस प्रश्नों पर वे मौन रहा करते थे—

- (1) क्या यह विश्व नित्य (eternal) है?
- (2) क्या यह विश्व अनित्य (non-eternal) है?
- (3) क्या यह विश्व ससीम (finite) है?

- (4) क्या यह विश्व असीम (infinite) है?
- (5) क्या आत्मा और शरीर एक ही है?
- (6) क्या आत्मा और शरीर भिन्न है?
- (7) क्या मृत्यु के बाद तथागत पुनर्जन्म लेते हैं?
- (8) क्या मृत्यु के बाद तथागत पुनर्जन्म नहीं लेते?
- (9) क्या तथागत का अवतार और पुनर्जन्म दोनों सत्य हैं?
- (10) क्या तथागत का पुनर्जन्म और पुनर्जन्म दोनों असत्य हैं?

उपर्युक्त प्रश्नों को बौद्ध धर्म के पाली-साहित्य में अव्यक्तानि प्रश्न (indeterminate questions) कहा गया है। इन प्रश्नों पर बुद्ध के मौन भाव के कई अर्थ लगाये जाते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार, बुद्ध को इन विषयों की जानकारी नहीं थी, इसीलिए वे इनके बारे में कुछ भी कहने में अक्षम थे। उनका मौन भाव उनकी अज्ञानता का प्रतीक है। बुद्ध, इन लोगों के अनुसार, अज्ञेयवादी (agnostic) थे। प्रो. कीथ (Prof. Keith) ने भी इस बात की पुष्टि की है। यह मत सर्वथा भ्रामक एवं अग्राह्य है। अतः इन्हें अज्ञेयवादी कहना उचित नहीं है। इन्हें अज्ञानी कहना हास्यास्पद है। बुद्ध को अज्ञानी कहने वाला स्वयं अज्ञानी है। बुद्ध और अज्ञान का तालमेल नहीं बैठता है। अतः इनका मौन भाव उनके

अज्ञान का सचूक नहीं है। उन पर अज्ञान अथवा अविद्या का आरोपण उचित नहीं हैं।

कुछ विचारकों ने माना है कि बुद्ध अदृश्य वस्तुओं में विश्वास नहीं रखते थे। इसके कारण आत्मा, परमात्मा आदि विषयों पर मौन रहा करते थे। इस मत के अनुसार, बुद्ध प्रत्यक्षवादी (positivist) माने जाते हैं। किन्तु यह मत भी उपर्युक्त मत की तरह ही अमान्य है।

कुछ लोगों के अनुसार, बुद्ध सन्देहवादी (skeptical) होने के कारण आत्मा, परमात्मा आदि की सत्ता में सन्देह रखते थे। इसीलिए वे इन विषयों पर मौन रहते थे। यह मत भी मान्य नहीं है, क्योंकि वे संदेहवादी नहीं थे।

कुछ अन्य विद्वानों का विचार है कि बुद्ध का तत्त्वशास्त्रीय प्रश्नों पर मौन रहना एक निश्चित लक्ष्य का प्रतीक है। आत्मा, परमात्मा आदि विषय ऐसे हैं, जिन पर मतैक्य नहीं पाया जाता। इनके स्वरूप को जानने का हमारे पास कोई उपयुक्त साधन नहीं है। इन पर जितना ही विचार किया जाता है, उतने ही ये और अधिक जटिल होते जाते हैं। इसीलिए बुद्ध ने सोचा कि इन प्रश्नों पर माथा-पच्ची करना, समय और शक्ति का दुरुपयोग करना है। यही कारण है कि उन्होंने इन प्रश्नों पर सदवै मौन

रहना श्रेयस्कर समझा। डॉ. राधाकृष्णन, डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, डॉ. सी. डी. शर्मा आदि ने भी इस बात का समर्थन किया है।

बुद्ध के अनुसार, विश्व दुःखमय हैं। मनुष्य सर्वत्र दुःख से कराह रहा है। बुढ़ापा, मृत्यु एवं रोग मानव-जीवन को दुःखमय बनाये हुए हैं। सुख भी दुःख से आक्रान्त है। ऐसी स्थिति में बुद्ध का कहना है कि हमारा प्रमुख एवं एक मात्र लक्ष्य मानव को दुःखों से मुक्त करना है। उनके ही शब्दों में, "मैं दुःख और दुःख निरोध पर ही अधिक जोर देता हूँ। जो दर्शन मानव को दुःखों से मुक्त न करके उसके सम्मुख आत्मा-परमात्मा की बातें करता है, वह निश्चय ही निम्न कोटि का दर्शन है। अर्थात् उसे दर्शन की दरिद्रता कहा जा सकता है। यदि हम तत्त्वशास्त्रीय प्रश्नों के समाधान में ही अपनी शक्ति एवं समय बर्बाद करते रहे, तो फिर दुःखी मानव को मुक्त कौन करेगा? मानवता की रक्षा कौन करेगा? इसलिए व्यक्ति का परम लक्ष्य होना चाहिए कि वह जीवन से दुःखों को दूर करने का प्रयास करे। त्रिपिटक अर्थात् तीन पिटारियाँ और धम्मपद नामक ग्रन्थ के अध्ययन से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है।

बुद्ध के बारे में एम. हिरियन्न ने ठीक ही लिखा है— जिस भावना से वे इस सक्रिय परोपकार में रत हुए, वे इस वचन से,

जिसे परम्परा उनका बताती है, भली-भाँति व्यक्त होती है कि वे प्रत्येक के दुःख का भार अपने ऊपर ले लेते, यदि ऐसा करने से संसार का दुःख मिट सकता। मनुष्य-जाति के आध्यात्मिक इतिहास में वे सबसे महान् पुरुषों में से एक हैं और उनका जीवन मानव जाति को सबसे अधिक प्रेरणा देने वालों में से एक है। डॉ. राधाकृष्णन और सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने भी इस बात की पुष्टि की है।

बुद्ध ने उपर्युक्त तथ्य को एक उपमा के द्वारा समझाने का प्रयास किया है। मान लें कि एक व्यक्ति तीर से घायल होकर दूसरे व्यक्ति के पास पहुँचता है, तीर अभी भी उसके सीने में चुभा हुआ है। दूसरे व्यक्ति का यहाँ सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि उसके सीने से तीर को बाहर निकाले और रक्त का बहना बन्द करे। यदि वह व्यक्ति ऐसा न करके इन प्रश्नों पर विचार करने लगे कि तीर किसने और क्यों मारा, तो घायल व्यक्ति की मृत्यु ही हो सकती है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि उसके सीने से तीर निकालकर उसकी जान बचाने की हर कोशिश होनी चाहिए। इसी प्रकार, तत्त्वशास्त्रीय प्रश्नों में समय और शक्ति का अपव्यय करने की अपेक्षा दुःख से कराहते हुए व्यक्तियों को आराम पहुँचाना श्रेयस्कर है। यही कारण है कि बुद्ध

तत्त्वशास्त्रीय समस्याओं पर सदैव मौन रहे। दत्त, चट्टोपाध्याय एवं सी. डी. शर्मा ने भी इस बात की पुष्टि की है।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि बुद्ध के तत्त्वशास्त्रीय प्रश्नों पर मौन रहने का एक खास प्रयोजन है। उन्होंने एक महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इन विषयों पर मौन रहना ही उचित समझा। उनका महान् लक्ष्य मानव को दुःखों से छुटकारा दिलाना था। इसलिए वे अपनी शक्ति अन्य प्रश्नों की ओर नहीं लगाना चाहते थे। यानी वे मात्र दार्शनिक समस्याओं की विवेचना करना नहीं चाहते थे, बल्कि दुनिया को बदलना चाहते थे।

बुद्ध ने चार आर्य-सत्य (four noble truths) की चर्चा की है। प्रथम आर्य सत्य है—‘दुःख’ है। द्वितीय आर्य-सत्य के अनुसार, दुःख का कारण है। तृतीय आर्य-सत्य के अनुसार, ‘दुःख-निरोध’ (cessation of suffering) है। चतुर्थ आर्य-सत्य के अनुसार, ‘दुःख-निरोध का मार्ग सम्भव है’ (There is a way leading to the cessation of suffering)। इस प्रकार, बुद्ध के चतुर्थ आर्य-सत्यों में दुःख की ही विवेचना हुई है। उनके अनुसार, जीवन दुःखमय है। इसीलिये कहा गया है— “The whole of Buddhism is mounted on the wheel of suffering” No suffering” No Buddhism. And the

wheel of suffering turns around the axis of cessation, which is the most intricate of all philosophical issues confronted by the human mind.”

बौद्ध-दर्शन में जीवन को दुःखमय प्रमाणित करने के लिए कई तर्क दिये जाते हैं। यहाँ निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये जा रहे हैं—

- (1) मानव-जीवन दुःख का सागर है। जन्म से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति को कष्ट-ही-कष्ट झेलना पड़ता है। जब व्यक्ति जन्म लेता है तो उसे विविध प्रकार की बीमारियाँ परेशान कर डालती हैं। बुढ़ापा मनुष्य का शरीर ही तोड़ देता है। इस समय व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियाँ काम नहीं कर पाती। मृत्यु तो मानव का सबसे भयानक शत्रु है। इसके खूनी पंजे से कोई नहीं बच सकता। इस प्रकार, मानव-जीवन में दुःख-ही-दुःख है। इसीलिए बुद्ध ने दुःख को सर्वव्यापी कहा है। अर्थात् “सर्वम दुःखम्” की विवेचना को देखकर ही कुछ विद्वानों ने इन्हें निराशावादी मान लिया है। इनकी दृष्टि में बौद्धों का इतिहास दुःखों का इतिहास है।

- (2) प्रत्येक सुख में भी दुःख का भाव विद्यमान है। जब आनन्द की इच्छा करते हैं, तो किसी अभाव की भावना हमारे अन्दर विद्यमान रहती है। इस प्रकार, सुख या आनन्द के मूल में दुःख से छुटकारा पाने के लिए अनेक कष्टों एवं बाधाओं का मुकाबला करना पड़ता है। सुख की प्राप्ति होने पर सदैव यह भय बना रहता है कि कहीं सुख गायब न हो जाय। वास्तव में सुख एवं आनन्द क्षणिक एवं नश्वर हैं। दुःखरहित विशुद्ध सुख की कल्पना नहीं की जा सकती है। त्रिपिटक के अध्ययन से इस बात की पुष्टि हो जाती है।
- (3) बौद्ध धर्म में क्षणिकवाद (momentariness) का जोरदार समर्थन किया गया है। विश्व में प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। कोई भी वस्तु स्थायी एवं नित्य नहीं है। जिस वस्तु के साथ हम अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हैं, जिस सुख की प्राप्ति के लिए हम एड़ी-चोटी का पसीना एक करते हैं, वह सुख भी क्षणभंगूर है। योगवाशिष्ठ में भी क्षणभंगूरता की विवेचना की गई है। जीवन की प्रत्येक वस्तु को क्षणभंगूर पाकर हमें अपार दुःख का अनुभव होता है। अभिधम्म पिटक में इस बात की पुष्टि की गई है।

विनय पिटक में भी दुःख से मुक्ति के लिये प्रार्थना की गई है।

उपर्युक्त तर्कों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में दुःख-ही-दुःख है। सुख एवं आनन्द नाम की कोई वस्तु नहीं है। बुद्ध ने ठीक ही कहा है— “विश्व में दुःखियों ने जितने आँसू बहाये हैं, उनका पानी महासागर के जल से भी अधिक है।” उन्होने पुनः कहा है—“जब समस्त विश्व आग की लपटों से झुलस रहा है, तब आनन्द मनाने का अवसर कहाँ? बुद्ध के प्रथम आर्य-सत्य (अर्थात् दुःख की उपस्थिति) को अधिकतर भारतीय विचारकों ने ग्रहण किया है। भारतीय दर्शन में दुःख से मुक्ति (liberation) को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। केवल चार्वाक-दर्शन इसका अपवाद है।

पाश्चात्य दार्शनिक शैपेनहावर (Schopenhauer) ने भी बुद्ध के प्रथम आर्य-सत्य का अनुमोदन किया है। इनका दर्शन दुःखों के विवरण से भरा पड़ा है। इनके अनुसार, जीवन दुःखमय है। ये इस विश्व को सभी सामान्य विश्वों में सबसे अधिक बुरा बतलाते हैं (This world is the worst possible of all worlds.)। इनके अनुसार, सर्वोत्तम वस्तु है ‘जन्म न लेना’ और इससे थोड़ी कम अच्छी वस्तु है ‘बचपन में ही मर जाना’ (“The first best thing is no to be born

at all and the second best thing is to die young.") । इस प्रकार, शौपनेआवर ने भी बुद्ध के प्रथम आर्य-सत्य का पूर्ण समर्थन किया है। अर्थात् शौपेनहावर निराशावादी थे। रसेल एवं फ्रेंकथिली ने भी इस बात की पुष्टि की है।

अब प्रश्न है क्या बुद्ध निराशावादी (pessimistic) विचारक थे? दुःखों पर अत्यधिक जोर देने के कारण कुछ लोग इन्हें 'निराशावादी' बतलाते हैं। निराशावादी उसे कहा जा सकता जो जीवन में केवल दुःख-ही-दुःख देखता है। बुद्ध ने केवल दुःखों पर ही जोर नहीं दिया, बल्कि उन दुःखों के निरोध का मार्ग भी बतलाया। इसलिए इन्हें निराशावादी नहीं कहा जा सकता है।

बौद्ध-दर्शन का आरम्भ निराशावाद से होता है; किन्तु इसका अन्त आशावाद में होता है (In Buddhism pessimism is initial and not final.)। राइज डेविडसन, डॉ. राधाकृष्णन, सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, सी.डी. शर्मा आदि ने भी इस बात की पुष्टि की है। जहाँ तक प्रथम आर्य-सत्य का सम्बन्ध है, बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में दुःखों की सर्वव्यापकता पर जोर दिया है। इस अर्थ में इन्हें निराशावादी कहा जा सकता है। किन्तु प्रथम आर्य-सत्य के बाद इन्होंने तीन और आर्य-सत्यों (noble truth) की स्थापना की है। इन तीनों के अनुसार, दुःखों का कारण होता है, दुःख-निरोध

सम्भव है और दुःख-निरोध के लिए मार्ग भी हैं। अर्थात् अष्टांगिक मार्ग ही सर्वोच्च पुरुषार्थ अथवा साहस का एक मात्र उपाय है। यानी इन्हीं सोपानों के जरिये निर्वाण की प्राप्ति हो पाती है। यदि बुद्ध केवल प्रथम आर्य-सत्य की स्थापना तक ही अपने को सीमित कर देते तो उन्हें निश्चय ही निराशावादी कहा जाता। किन्तु उन्होंने और तीन आर्य-सत्यों की स्थापना करके दुःखों को दूर करने का मार्ग भी बतलाया है। उन्होंने 'निर्वाण' की कल्पना करके एक ऐसे आशामय वातावरण का निर्माण किया है कि इसमें निराशावाद टिक ही नहीं सकता। जब व्यक्ति के सम्मुख दुःख दूर करने का मार्ग खुला है तो फिर उसे निराश होने की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार, बौद्ध धर्म में निराशावाद को एक साधन (means) के रूप में अपनाया गया है, न कि साध्य (end) के रूप में। विद्वानों को इनके प्रशस्त मार्ग का ख्याल रखना चाहिये। यदि इसका ख्याल रखा जाय तो वे निराशावादी नहीं दिखेंगे।

अतः बुद्ध को वास्तव में निराशावादी नहीं कहा जा सकता। यानी बुद्ध और उनके अनुयायी दीखते हैं निराशावादी किन्तु हैं नहीं। इन्हें आशावादी कहना युक्ति संगत प्रतीत होता है।

बुद्ध के द्वितीय आर्य-सत्य में दुःखों के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। प्रायः सभी भारतीय विचारकों के अनुसार, दुःख का मूल कारण अज्ञान (ignorance) है। बुद्ध ने दुःख के कारणों पर पूर्ण प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इनके सिद्धान्त को 'कार्य-कारण-सिद्धान्त' (Causal theory) पर आधारित कहा जा सकता है। दत्त एवं चट्टोपाध्याय ने भी इस बात की पुष्टि की है।

बुद्ध कार्य-कारण-सिद्धान्त को 'प्रतीत्यसमुत्पाद' (Theory of Dependent Origination) की संज्ञा देते हैं। 'प्रतीत्य' का अर्थ है किसी वस्तु के उपस्थित होने पर (depending) और 'समुत्पाद' का अर्थ है किसी दूसरी वस्तु का उपस्थित होना (origination)। इस प्रकार, 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का शाब्दिक अर्थ होता है—एक वस्तु के उपस्थित होने पर किसी अन्य वस्तु अथवा वस्तुओं की उपस्थिति यानी वह अपनी उत्पत्ति के लिए अपने कारण पर आश्रित है और अपने अन्य कारणों को छोड़ देता है। कोई वस्तु स्थायी नहीं है। इसी युक्ति के कारण इन्हें क्षणिकवादी अथवा अनित्यवादी दार्शनिक माना जाता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद का मूल्यांकन (Evaluation of the Theory of Dependent Origination)

प्रतीत्यसमुत्पाद के विरुद्ध निम्नलिखित आक्षेप किये जाते रहे हैं—

(क) बौद्धों का 'प्रतीत्यसमुत्पाद' मौलिक न होकर उपनिषद्-दर्शन के 'ब्रह्म-चक्र' की नकल है। यह आक्षेप निराधार है। उपनिषद्-दर्शन के 'ब्रह्मचक्र' में दुःखों के कारणों पर प्रकाश अवश्य डाला गया है; किन्तु इसी आधार पर बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पाद को इसकी नकल बतलाना सर्वथा अनुचित है। राहुल सांकृत्यायन के. दामोदरन, भीमराव अम्बेडकर आदि ने भी इस बात की पुष्टि की है।

(ख) यदि प्रत्येक निदान का कारण होता है, तो फिर अविद्या का क्या कारण है? बौद्धों का अविद्या पर आकर रूकने का क्या आधार है? बौद्ध-विचारक यह कह सकते हैं कि दुःख से अविद्या तक और अविद्या से दुःख तक पहुँचने पर चक्र (cycle) पूर्ण हो जाता है। अविद्या और दुःख में पूर्ववर्ती और-अनुवर्ती का निर्धारण करना निरर्थक है। दोनों ही साथ-साथ चलते हैं। चार्ल्स इलियट ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

महत्त्व

प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर ही बौद्ध-दर्शन में क्षणिकवाद या अनित्यवाद की स्थापना की जाती है। इस

सिद्धान्त के अनुसार, प्रत्येक वस्तु का कोई कारण अवश्य होता है। कारण के अभाव में कार्य भी नष्ट हो जाता है एवं उसका रूप परिवर्तित हो जाता है। अनित्यवाद के अनुसार, कोई भी वस्तु नित्य एवं स्थायी नहीं है। पाश्चात्य दार्शनिक हेराक्लीटस की रचनाओं में भी इस बात का समर्थन किया गया है। इन्होंने भी परिवर्तन को सभ्य माना है। इनकी दृष्टि में सब क्षणिक है और नित्य कुछ भी नहीं है। रसेल ने भी इस बात की पुष्टि की है।

प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध-दर्शन के 'अनात्मवाद' (the theory of not-self) की आधार शिला है। जब विश्व की कोई भी वस्तु नित्य एवं स्थायी नहीं है, तो आत्मा को भी नित्य नहीं कहा जा सकता है। आत्मा भी अनित्य एवं नश्वर है। देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, के. दामोदरन, राहुल सांकृत्यायन, भीमराव अम्बेडकर आदि ने भी इस बात की पुष्टि की है।

इस प्रकार, 'प्रतीत्यसमुत्पाद' बौद्ध-दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। बौद्धों का सम्पूर्ण सिद्धान्त इसी प्रतीत्यसमुत्पाद पर आधारित है।

बुद्ध ने अपने द्वितीय आर्य-सत्य में दुःख के कारणों पर प्रकाश डाला था। उनके अनुसार, यदि कारण को निर्मूल कर दिया जाए तो कार्य भी निर्मूल हो जाता है। इसी प्रकार, यदि

दुःख के कारणों को नष्ट कर दिया जाए तो फिर दुःख का भी विनाश हो जाता है। निर्वाण दुःखरहित अवस्था का नाम है। बुद्ध के तृतीय सत्य में इसी निर्वाण की व्याख्या की गयी है। राज ज डेविडस और डॉ. राधाकृष्णन ने निर्वाण के भावात्मक और निषेधाव्यक्त पक्ष का समर्थन किया है। अर्थात् इनकी दृष्टि में बौद्धों की निर्वाण सम्बन्धी अवधारणा में दोनों पक्ष विद्यमान हैं। यानी निर्वाण आनन्द की अवस्था भी है और इसे दुःख रहित अवस्था भी कहा जा सकता है।

निर्वाण

अतः अब हम निर्वाण के स्वरूप पर विचार करेंगे। निर्वाण को कई अर्थों में प्रयुक्त किया जाता रहा है। यहाँ कुछ अर्थ इस प्रकार हैं—

- (1) बौद्ध ग्रन्थों एवं साहित्य में निर्वाण का अर्थ 'जीवन का चरम लक्ष्य' (the highest end of life) कहा गया है। जीवन का चरम लक्ष्य दुःखों से छुटकारा या मोक्ष की प्राप्ति है। इसलिए निर्वाण को दुःखरहित अवस्था या मोक्ष कहा जाता है। आचार्य शंकर ने भी इस बात की पुष्टि की है।
- (2) पाणिनि ने निर्वाण का अर्थ 'बहती हवा का रुक जाना' बतलाया है। दुःखों एवं तकलीफों की आँधी का बन्द हो

जाना ही 'निर्वाण' हैं। यानी दुःखों का अन्त ही निर्वाण है।
न्याय-वैशेषिकों ने भी इस बात की पुष्टि की है।
उदयनाचार्य ने भी इस बात का समर्थन किया है।

- (3) निर्वाण का अर्थ 'शान्तावस्था' भी माना गया है। दुःखों के नष्ट होने पर व्यक्ति एक प्रकार की शान्ति का अनुभव करता है। इसी अर्थ में इसे 'शान्तावस्था' कहते हैं। सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने भी इस बात की पुष्टि की है।
- (4) कुछ चिन्तकों ने निर्वाण को 'बुझे हुए' के अर्थ में भी रखा है। दुःखों की जलती अग्नि का बुझ जाना ही निर्वाण है। गिरिधर कवि ने भी इस बात का जोरदार समर्थन किया है।

निर्वाण के कुछ और अर्थ भी होते हैं। यहाँ इसके शाब्दिक विश्लेषण से प्राप्त इसके कुछ अर्थों को उद्धृत किया जा रहा है—

(क) 'वाण' का अर्थ है 'पुनर्जन्म का रास्ता'। अज्ञान के कारण व्यक्ति एक जन्म से दूसरे जन्म का चक्कर काटता रहता है। उसे बार-बार जन्म लेना और मरना पड़ता है। अज्ञान के हटते ही वह जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता है। इसलिए निर्वाण का अर्थ 'पुनर्जन्म का रास्ता बन्द हो जाना' कहा गया है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है।

निर्वाण प्राप्त व्यक्तियों की चर्चा करते हुए डॉ. सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त एवं डॉ. राधाकृष्णन् ने उपर्युक्त बातों का समर्थन किया है। इन्होंने भी माना है कि अविद्या ही पुर्नर्जन्म का कारण है और विद्या ही मुक्ति का कारण है। अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर का कारण अविद्या ही है। और अविद्या के नष्ट होने पर ही पुर्नर्जन्म से मुक्ति मिलती है।

(ख) 'वाण' का अर्थ दुर्गन्ध होता है। स्वार्थ-भाव से किये गये कर्मों से एक प्रकार की दुर्गन्ध निकलती रहती है। निर्वाण का अर्थ है 'कर्म से इस प्रकार की दुर्गन्ध का निकलना बन्द हो जाना।' दूसरे शब्दों में निर्वाण की अवस्था में व्यक्ति दूषित एवं दुर्गन्धमय कर्मों से मुक्त हो जाता है। उसके कर्मों से दुर्गन्ध के स्थान पर सुगन्ध निकलने लगती है। आचार्य कनकनन्दीजी एवं डॉ. सोहन राज तातेड़ ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

(ग) 'वाण' की उत्पत्ति 'वन' से हुई है। 'वन' का अर्थ झाड़ी या जंगल होता है। जीवन को दुःखों एवं कठिनाइयों का वन अथवा जंगल रूप माना गया है। निर्वाण का अर्थ 'दुःखरूपी जंगल का विनाश' होना है। इस अवस्था में व्यक्ति जन्म-मरण एवं व्याधियों के जाल से मुक्त हो जाता है। आचार्य कनकनन्दीजी ने भी इस बात का समर्थन किया है।

(घ) 'वाण' का अर्थ 'बुनना' भी कहा गया है। अज्ञानवश व्यक्ति अपने कर्म-रूपी धागों से जीवन की चादर बुनता रहता है। स्वयं निर्मित चादर में व्यक्ति उलझा रहता है। जिस क्षण अज्ञान नष्ट हो जाता है, उसी क्षण व्यक्ति कर्मों की चादर बुनना बन्द कर देता है। यह अवस्था निर्वाण की है। बौद्धों की तरह जैनियों ने भी कैवल्य का वर्णन किया है। अर्थात् जैनियों ने भी इस बात की पुष्टि की है।

निर्वाण के उपर्युक्त विभिन्न अर्थों को देखने से यह बात सामान्य रूप से स्पष्ट हो जाती है कि निर्वाण दुःखरहित अवस्था का नाम है। दुःख को निर्वाण का निषेधात्मक पक्ष (It is a negative aspect) कहा जाता है। यहाँ सभी प्रकार के कष्टों का अन्त हो जाता है। डॉ. राधाकृष्णन्, ने धम्मपद के अनुवाद करने के प्रसंग में इस बात की पुष्टि की है।

निर्वाण का भावात्मक पक्ष (positive aspect) भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस अवस्था में व्यक्ति को एक प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है। इसमें एक अजीब शक्ति की अनुभूति होती है। निर्वाण को आनन्दमय मानने वालों में प्रो. मैक्समूलर, श्रीमती रायज डेविड्स, डा. राधाकृष्णन् आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में, "निर्वाण जो आध्यात्मिक संघर्ष की

सिद्धि है, भावात्मक आनन्द की अवस्था हैं।” इसी प्रकार रायज डेविड्स ने भी कहा है—“निर्वाण मन की पापहीन शान्तावस्था का समरूप है, जिसे सर्वोत्तम कहा जाता है। दूसरे शब्दों में निर्वाण मन की पापहीन शान्तावस्था का समरूप है, जिसे सर्वोत्तम ढंग से पवित्रता, पूर्व शान्ति, शिवत्व एवं प्रज्ञा कहा जा सकता है।” सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, डॉ. राधाकृष्णन, सी.डी. शर्मा आदि ने भी इस बात की पुष्टि की है।

कुछ लोगों ने निर्वाण को आनन्दमय होने के कारण बौद्ध-दर्शन को सुखवादी (hedonistic) दर्शन कहा है। किन्तु ऐसा कहना गलत है। सुख और आनन्द (pleasure and happiness or bliss) को एक नहीं कहा जा सकता है। डॉ. सोहन राज तातेड़ ने भी इस बात का समर्थन किया है।

निर्वाण की प्राप्ति इसी जीवन में हो सकती है। जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति के अनुकूल निर्वाण और परिनिर्वाण में अन्तर किया जा सकता है। शरीर रहते हुए इसी जीवन में मुक्ति पाना ‘निर्वाण’ है और शरीर के नष्ट होने पर (अर्थात् मृत्यु के बाद) मुक्ति पाना ‘परिनिर्वाण’ है। महात्मा बुद्ध ने स्वयं इस जीवन में मुक्ति अर्थात् निर्वाण प्राप्त किया था। बौद्धों ग्रन्थों के अध्ययन से इस बात की पुष्टि स्वयं हो जाती है।

निर्वाण अनिर्वचनीय (indescribable) है। यूनान के राजा मिलिन्द के सम्मुख नागसेन उपमाओं के माध्यम से 'निर्वाण' की इस अवस्था की व्याख्या देते हैं—“निर्वाण सागर की भाँति गहरा, पर्वत की भाँति ऊँचा और मधु की भाँति मधुर है।” निर्वाण को वही समझ सकता है, जिसे इसकी अनुभूति पहले हो चुकी हो। त्रिपिटक, विशेषकर सुत्त पिटक और अभिधम्म पिटक से इस बात की पुष्टि हो जाती है। यों विनय पिटक से भी इस बात की पुष्टि होती है। धम्मपद के अध्ययन से भी इस बात की सम्पुष्टि हो जाती है।

डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने भी कहा है—“लौकिक अनुभव के रूप में निर्वाण का विवेचन मुझे एक असाध्य कार्य प्रतीत होता है। यह एक ऐसी स्थिति है, जहाँ सभी लौकिक अनुभव निषिद्ध हो जाते हैं, इसका विवेचन भावात्मक प्रणाली से शायद ही संभव है।” डा. कीथ (Dr. Keith) भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त करते हैं—“सभी व्यावहारिक शब्द अवर्णनीय का वर्णन करने में अक्षम हैं।” इस प्रकार, तर्क और विचार के माध्यम से 'निर्वाण' को न तो समझा जा सकता है और न भाषा के द्वारा इसे अभिव्यक्त किया जा सकता है। डॉ. राधाकृष्णन्, सी. डी. शर्मा आदि ने भी इस बात की पुष्टि की है।

कुछ लोग 'निर्वाण' को अस्तित्व के विनाश' के अर्थ में ग्रहण करते हैं। इनके अनुसार, निर्वाण का अर्थ 'बुझा हुआ' (extinguished) होता है। 'बुझा हुआ' का अर्थ 'अस्तित्व का समाप्त हो जाना' है। निर्वाण की अवस्था में अस्तित्व का नाश हो जाता है। यह आक्षेप निराधार है। वास्तव में निर्वाण अस्तित्व के विनाश का सूचक नहीं, बल्कि दुःखों के विनाश का सूचक है। इसलिए इसे अस्तित्व का विनाश नहीं कहा जा सकता। स्वयं बुद्ध का जीवन इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है। उन्होंने निर्वाण-प्राप्ति के बाद अपना अस्तित्व कायम रखते हुए अनेक वर्षों तक धर्मोपदेश एवं लोककल्याण का कार्य किया।

कुछ आलोचक निर्वाण को निष्क्रियता की अवस्था मानते हैं। यह आक्षेप भी गलत है। स्वयं भगवान बुद्ध निर्वाण प्राप्त करने के बाद भी अस्सी वर्ष की उम्र तक लगातार सक्रिय जीवन व्यतीत करते रहे। इसलिए इसे निष्क्रिय (passive or inactive) अवस्था नहीं कही जा सकती है। राहुल सांकृत्यायन, के. दामोदरन आदि ने भी इस बात की पुष्टि की है।

यहाँ अब प्रश्न उठता है—क्या निर्वाण प्राप्त व्यक्ति के कर्म संस्कार उत्पन्न नहीं होते? बौद्ध-विचारक इसका समाधान इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—कर्म दो प्रकार के होते हैं—(1) स्वार्थ के

लिए किये गये कर्म और (2) निष्काम कर्म। स्वार्थपूर्ण कर्म संस्कार उत्पन्न करते हैं। जिसके फलस्वरूप व्यक्ति को पुनः जन्म धारण करना पड़ता है और दुःख झेलना पड़ता है। निष्काम कर्म के मूल में कोई स्वार्थ-भावना नहीं रहती है। श्रीमद्भगवद्गीता, रामायण, रामचरित मानस आदि में भी इस बात की पुष्टि की गई है। भगवत्कृपा को आवश्यक माना गया है। किन्तु बौद्धों ने निष्काम कर्म को ही इसके लिये पर्याप्त माना है। इसमें व्यक्ति बिना किसी फल की इच्छा रखे कार्य करता है। जन-कल्याण के लिए किये गये कर्म को भी निष्काम कर्म कहा जा सकता है। ये कर्म संस्कार उत्पन्न नहीं करते। बुद्ध और राजा जनक इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इसलिए ये कर्म व्यक्ति को बंधन में नहीं डालते। निर्वाणरूपी अग्नि में कर्मरूपी बीज को भूँज देने से इससे जन्म-मरण रूपी अंकुर नहीं निकलते। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति को 'अर्हत' कहते हैं। उसका फिर से बंधनग्रस्त होना अंशभव है। धम्मपद के अध्ययन से इन बात की सम्पुष्टि हो जाती है। सम्राट अशोक ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

निर्वाण से लाभ

निर्वाणग्रस्त व्यक्ति को निम्नलिखित लाभ होते हैं—

(क) जन्म—मरण एवं पुनर्जन्म के चक्कर से सदा के लिए मुक्त हो जाना।

(ख) दुःखों से पूर्ण छुटकारा पाना।

(ग) जीवन में अद्भूत शान्ति एवं विशुद्ध आनन्द की अनुभूति।

(घ) अज्ञान के स्थान पर ज्ञान का प्रकाश होना और व्यक्ति में साहस, शुद्धता पवित्रता, संयम आदि गुणों का उदय होना। संसार का प्रत्येक व्यक्ति आज भी शान्ति ही चाहता है, संघर्ष नहीं। अर्थात् ज्ञान और शान्ति ही जीवन का साध्य है। यही जीवन का वास्तविक लाभ है।

अष्टांग मार्ग (The Eightfold path)

बुद्ध के चतुर्थ आर्य—सत्य में दुःख—निरोध मार्ग पर प्रकाश डाला गया है। इस मार्ग पर चलकर निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। यानी शान्ति की प्राप्ति की जा सकती है। इस मार्ग में आठ सोपान हैं, इसीलिए इसे 'अष्टांग मार्ग' (the eightfold path) कहते हैं। ये आठ—अंग हैं —

1. सम्यक् दृष्टि (Right View)

दुःख का मूल कारण अविद्या (ignorance) है। अविद्या के कारण ही व्यक्ति वास्तविक, क्षणिक वस्तुओं को स्थायी, दुःखदायी

वस्तुओं को सुखदायी एवं 'अनात्मवाद' को आत्मवाद समझने की भूल कर बैठता है और इसी भूल के कारण व्यक्ति बंधनग्रस्त होता है। इस प्रकार, 'अविद्या' ही दुःख का मूल कारण है। अतः सर्वप्रथम हमें दुःख से बचने के लिए अज्ञान अर्थात् अविद्या को दूर करना है। इसके लिये सम्यक् दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। सम्यक् दृष्टि का अर्थ है आर्य-सत्यों का ज्ञान। इसीलिये बौद्ध ग्रन्थों में सम्यक् दर्शन के अध्ययन को जरूरी बतलाया है। जातक कथाओं के अध्ययन से भी इस बात की पुष्टि की जाती रही है। जैन ग्रन्थों में भी निर्वाण के लिये सम्यक् दर्शन के अंग-प्रत्यंग का अध्ययन करना और उसे जीवन में उतारने की सीख दी गई है।

2. सम्यक् संकल्प (Right Resolve or Right Determination)

आर्य सत्यों के ज्ञान-मात्र से कोई लाभ नहीं हो सकता। इस ज्ञान के साथ-साथ इसके अनुसार जीवन बिताने का संकल्प करना आवश्यक है। सांसारिक विषयों की प्राप्ति, आसक्ति, दूसरों के प्रति विद्वेष एवं हिंसा-भावना को परित्याग करने का दृढ़ संकल्प होना चाहिए। इसी का नाम 'सम्यक् संकल्प' है।

3. सम्यक् वाक् (Right Speech)

केवल सम्यक् संकल्प से काम नहीं चल सकता। इस संकल्प का सम्यक् वाक् करना आवश्यक है। हमें सदैव अपने शुद्ध वचन पर दृढ़ रहना है। सत्य एवं मधुर वचनों का प्रयोग ही सम्यक् वाक् है। मिथ्यावादिता, निन्दा, अप्रिय वचन तथा वाचालता का परित्याग ही सम्यक् वाक् के अन्तर्गत आता है।

4. सम्यक् कर्मान्त (Right Actions)

केवल मधुर भाषण एवं सत्य भाषण से काम नहीं चल सकता। यदि कोई व्यक्ति सत्य एवं मधुरभाषी हो, किन्तु बुरे कर्म करता हो तो वह पथभ्रष्ट हो जाएगा। इसलिए उचित कर्म करना भी आवश्यक है। बुरे कर्मों से बचना ही सम्यक् कर्म है। बुरे कर्म तीन कहे जाते हैं—हिंसा, स्तेय और परिग्रह। इन्द्रिय-संयम सम्यक् कर्मान्त के अन्दर आता है। बुद्ध ने विभिन्न श्रेणियों के मनुष्यों के लिए विभिन्न कर्म निर्धारित किये हैं। काम, क्रोध, मोह और लोभ पर विजय प्राप्त करना ही सम्यक कर्म कहलाते हैं। जैनियों ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

5. सम्यक् आजीविका (Right Livelihood)

उचित ढंग से जीवन-यापन करना ही सम्यक् आजीविका है। जीवन-यापन के लिए कभी भी अनुचित मार्ग का सहारा नहीं लेना, बौद्ध ग्रन्थों में इससे भी सावधान रहने की सीख दी गई

है। इसलिये कटु वचन एवं बुरे कर्मों के त्याग के साथ-साथ उचित ढंग से जीवन-निर्वाह करना चाहिए। धोखा, घूस, लूट, अत्याचार आदि अशुभ उपायों का उपयोग जीवन व्यतीत करने में नहीं होना चाहिए। महात्मा गाँधी ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है। कुछ लोगों ने सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीविका को एक ही माना। किन्तु बौद्धों ने जान-बूझकर इन्हें अलग-अलग रखा है। उचित कर्म करने वाला व्यक्ति भी कभी-कभी जीविकोपार्जन के लिए अनुचित ढंग से काम करने लगता है। इसलिये आसक्ति और मोह भंग करने की बात भी जातक कथाओं में की गई है।

6. सम्यक् व्यायाम (Right Effort)

सम्यक् व्यायाम का अर्थ है निर्वाण-पथ पर प्रगतिशील होने के लिए प्रयत्नशील रहना। हमें अपने मस्तिष्क से बुरे विचारों को निकालकर अच्छे विचारों को उसमें भरते रहना चाहिए। सम्यक् व्यायाम के अन्तर्गत चार बातें आवश्यक हैं—(क) पुराने बुरे भावों का नाश करना; (ख) नये बुरे विचारों को दिमाग में न आने देना; (ग) अच्छे विचारों को मन या मस्तिष्क में भरना और (घ) अच्छे विचारों को मन में धारण करने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना। इस प्रकार, अशुभ मनःस्थिति का अन्त करके शुभ मन की

स्थिति का उदय करना ही सम्यक् व्यायाम है। डॉ. राधाकृष्णन् ने धम्मपद के भाषानुवाद में भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

7. सम्यक् स्मृति (Right Remembrance)

सीखे हुए विषयों का सतत् स्मरण रखना ही सम्यक् स्मृति है। वास्तविक एवं अवास्तविक के बीच अन्तर को सदैव याद रखना आवश्यक है। भूलना मानव के स्वभाव में ही निहित है। मन मन है, शरीर शरीर है, संवेदना संवेदना है—इन तथ्यों को सदैव याद रखना आवश्यक हैं। संसार के सभी पदार्थ नाशवान हैं, इसे श्मशानघाट में स्पष्टतया देखा जा सकता है। नश्वर वस्तुओं की ओर से विरक्ति की भावना अनवरत रूप से स्मरणीय है।

8. सम्यक् समाधि (Right Concentration)

उपर्युक्त सात सोपानों से गुजरने के बाद मस्तिष्क को ध्यान की आवश्यकता होती है। चार्वाक के सिवा सभी भारतीय विचारकों ने ध्यान या समाधि को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। बौद्ध और योग—दर्शन में समाधि को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है।

धम्मपद में समाधि के चार स्तर माने गये हैं—

(क) समाधि की प्रथम अवस्था में सम्यक् ज्ञान से प्राप्त सत्यों पर ध्यान देना आवश्यक है। इन सत्यों का मनन एवं चिन्तन आवश्यक है। इसके सम्बन्ध में उठी समस्याओं का समाधान भी ढुँढ़ना पड़ता है। सूत पिटक में भी इस बात की पुष्टि की गई है। डॉ. राधाकृष्णन् के द्वारा ट्रांसलेटेड धम्मपद नामक ग्रन्थ में इस बात की विस्तृत चर्चा की गई है। भिक्खु वग्गो एवं ब्राह्मण वागों में विशेषकर इस बात की चर्चा की गई है।

(ख) समाधि की दूसरी अवस्था में तर्क-वितर्क की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। इस अवस्था में शंका के लिए कोई स्थान नहीं बचता। यहाँ आनन्द की अनुभूति होती है और स्व अनुभूति की चेतना भी रहती है।

(ग) समाधि की तीसरी अवस्था में मन के अन्तर्गत आनन्द के प्रति उदासीनता आ जाती है। आनन्द की चेतना निर्वाण-प्राप्ति में बाधक है। इसलिए साधक को आनन्द की अनुभूति से विमुख होना पड़ता है। इस अवस्था की चेतना नहीं रहती, परन्तु इनमें आराम और शान्ति की चेतना पायी जाती है।

(घ) समाधि की चौथी एवं अन्तिम अवस्था में आराम एवं शान्ति की चेतना भी गायब हो जाती है। यह अवस्था सुख-दुःख

के परे है। इसमें पूर्ण शान्ति तो रहती हैं, किन्तु इसकी चेतना का अभाव रहता है। यह ध्यान या समाधि की परम अवस्था है, जिसे निर्वाण कहते हैं। यह अवस्था पूर्ण शान्ति, पूर्ण वैराग्य एवं पूर्ण संयम की है। इस अवस्था में सुख—दुःख का मिश्रण नहीं रहता। यहाँ सभी दुःखों का नाश हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति 'अर्हत' बन जाता है। अर्हत निर्वाण प्राप्त व्यक्ति को कहते हैं। राज जेविडस ने भी इस बात की पुष्टि की है। धम्मपद के अध्ययन से यह और स्पष्ट हो जाता है। डॉ. राधाकृष्णन् ने युक्ति संगत ढंग से इस बात की विवेचना की है।

संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि बुद्ध का अष्टांग मार्ग प्रज्ञा (highest knowledge), शील (perfect conduct) और पूर्ण समाधि (complete concentration) का ही मार्ग है। 'प्रज्ञा' के अन्तर्गत सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प आते हैं। 'शील' के अन्तर्गत सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका एवं सम्यक् व्यायाम आते हैं। 'समाधि' के अन्तर्गत सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि रखी जा सकती है। साधक प्रज्ञा एवं शील द्वारा अपने को अनुशासन में लाता है और अन्त में वह ध्यान के लिए तैयार होता है। स्वयं बुद्ध ने बोधि—वृक्ष के नीचे समाधि की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया था।

बौद्ध मत के धार्मिक सम्प्रदाय

विश्व के विभिन्न धर्मों का इतिहास देखने से पता चलता है कि उनका विभाजन विभिन्न सम्प्रदायों में किया गया है। उदाहरणार्थ, ईसाई धर्म का विभाजन प्रोटेस्टेण्ट एवं कैथोलिक-सम्प्रदाय में; इस्लाम का शिया और सुन्नी-सम्प्रदाय में तथा जैन धर्म का विभाजन दिगम्बर एवं श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में पाया जाता है। इसी प्रकार अन्य कई धर्मों के सम्प्रदाय दीख पड़ते हैं। बौद्धधर्म के दो सम्प्रदाय हैं-हीनयान और महायान। हीनयान बौद्ध धर्म का सबसे प्रारम्भिक रूप है और महायान विकसित रूप है।

चार्ल्स इलियट ने लिखा है कि *obscurest period in the history of Buddhism is that which follows the reign of Ashoka, but the emperor cannot go far long in these dark ages without stumbling upon the word Mahayan.*

इन दोनों सम्प्रदायों का सामान्य रूप प्रस्तुत किया जा रहा है:-

हीनयान

हीनयान स्वयं बुद्ध के उपदेशों पर आधारित होने के कारण बौद्ध धर्म का सबसे पुराना रूप माना जाता है। इसका आधार पाली-साहित्य है। लंका, श्याम, थाइलैंड, चीन, बर्मा आदि

देशों में इस धर्म के अनुयायी पाये जाते हैं। राहुल सांकृत्यायन ने भी इस बात की पुष्टि की है।

हीनयान विश्व की प्रत्येक वस्तु को क्षणिक एवं नश्वर मानता है। इसके अनुसार, आत्म की सत्ता नहीं है। इसलिए इसमें 'अनात्मवाद' का समर्थन किया गया है। यह अनीश्वरवादी (atheist) धर्म है। यहाँ 'धम्म' और 'कम्म' ईश्वर के रूप में लिये जाते हैं यहाँ बुद्ध, धम्म एवं संघ तीनों को अपनाने पर जोर दिया जाता है। प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति नामक पुस्तक में भी इस बात की पुष्टि की गई है।

हीनयान के अनुसार, निर्वाण दुःख रहित अवस्था का नाम है। यहाँ निर्वाण को केवल निषेधात्मक रूप में ग्रहण किया गया है। निर्वाण-प्राप्ति के लिए यहाँ स्वावलम्बन पर जोर दिया गया है। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत प्रयास से ही दुःखों से मुक्त हो सकता है। यहाँ व्यक्तिगत मोक्ष (personal liberation) पर जोर दिया गया है। व्यक्ति को अपने मोक्ष की चिन्ता करनी चाहिए—मोक्ष का यह संकुचित रूप है।

हीनयान में 'संन्यास' को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। सामाजिक जीवन का भी यहाँ खण्डन किया जाता है। सामाजिक जीवन आसक्ति का भाव उत्पन्न करता है, जिसके कारण दुःख

होता है। यहाँ बुद्ध को महात्मा के रूप में चित्रित किया गया है। यहाँ सन्यासियों को भिक्षुक एवं अर्हत कहा जाता है। भिक्षुक एवं अर्हत के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने भी प्रकाश डाला है। ये लोग त्रिपिटक से अधिक प्रभावित नजर आते हैं। इन्हें कन्जरवेटिव माना जाता है। महायानी इनकी तुलना में अधिक प्रगतिशील नजर आते हैं।

महायान

हीनयान अविकसित एवं प्रारम्भिक धर्म होने के कारण बौद्धों को सन्तुष्ट करने में असमर्थ रहा। इसलिए एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की गयी इसे 'महायान' कहते हैं। यह बौद्ध धर्म का विकसित रूप है। यह प्रशस्त मार्ग है। डॉ. राधाकृष्णन् ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

महायान ईश्वरवादी धर्म है। महायान में ईश्वर को करुणामय एवं प्रेममय माना गया है। यह ईश्वर भक्ति पर बल देता है। इसलिए यह धर्म, धार्मिक भावना को सन्तुष्ट कर पाता है। यहाँ आत्मा के अस्तित्व का समर्थन किया गया है। यहाँ संन्यास के स्थान पर विश्व में सक्रिय होकर प्रगति करने पर जोर दिया गया है। सी. डी. शर्मा ने भी इस बात का समर्थन किया है।

महायान में निर्वाण के भावनात्मक पक्ष पर जोर दिया गया है। इसे अनात्ममय अवस्था के रूप में ग्रहण किया गया है। महायानियों का दृष्टिकोण उदार एवं प्रगतिशील है। भीमराव अम्बेदकर, राष्ट्र कवि रामधारीसिंह दिनकर, भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

महायान सम्प्रदाय की विशेषताएँ

हीनयान संकुचित एवं व्यावहारिक धर्म सिद्ध हुआ। यह निरीश्वरवादी धर्म था। इसमें स्वालम्बन एवं संन्यास पर अधिक जोर दिया गया। इन सब कारणों से बौद्धों को हीनयान से सन्तुष्टि न मिल सकी। इसलिये मानव मात्र के कल्याण हेतु एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की है। इस नवीन सम्प्रदाय का नाम महायान पड़ा।

महायान एक विकसित धार्मिक सिद्धान्त हैं। 'महायान' दो शब्द-खण्डों से बना है—'महा'+ 'यान'। 'महा' का अर्थ 'बड़ी' और 'यान' का अर्थ 'गाड़ी' होता है। इस प्रकार, 'महायान' शब्द का अर्थ 'बड़ी गाड़ी' अर्थात् प्रशस्त मार्ग है। यह एक ऐसा प्रशस्त मार्ग है जिस पर चलकर असंख्य साधक निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। इसे 'सहजयान' (easy way) भी कहा जाता है, क्योंकि इस

पर चलना सभी के लिए सुलभ हैं। इसके सिद्धान्त को सुगमता से हृदयस्थ किया जा सकता है। महायान-धर्म के समर्थक कोरिया, चीन, जापान आदि देशों में अधिक संख्या में पाये जाते हैं। ऐसे तो इस धर्म ने व्यापक रूप से अधिकांश मनुष्यों को आकर्षित किया है।

महायान ईश्वरवादी धर्म हैं। इसमें ईश्वर के रूप में बुद्ध की आराधना की जाती है। हीनयान निरीश्वरवादी धर्म होने के कारण लोगों का ध्यान आकर्षित करने में अक्षम रहा है। मानव-‘जीवन में अनेक ऐसे अवसर आते हैं, जब व्यक्ति के स्वावलम्बन को पर्याप्त नहीं माना जाता। वह अपनी सीमित क्षमता के कारण स्वावलम्बन के आधार पर सभी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में वह एक ऐसी सर्वशक्तिशाली सत्ता की कल्पना करता है, जिसके बल पर वह कठिनाइयों का सामना कर सके। यही सर्वशक्तिशाली सत्ता ईश्वर है, जिसे महायानियों ने भगवान् बुद्ध कहा है। इस ईश्वर के सम्मुख व्यक्ति आत्म समर्पण कर देता है और उसमें स्वावलम्बन के स्थान पर निर्भरता की भावना उठती है। महायान में ईश्वर को करुणापूर्ण एवं प्रेम पूर्ण कहा गया है। महायान में ईश्वर-भक्ति पर विशेष जोर दिया जाता है।²

महायान में आत्मा की सत्ता स्वीकार की गयी है। यदि आत्मा की सत्ता न मानी जाय तो फिर मुक्ति किसे मिलेगी? इसलिए मोक्ष की सार्थकता के लिए आत्मा की सत्ता में विश्वास आवश्यक है। यह वैयक्तिक या हीन आत्मा में विश्वास नहीं करता। इस धर्म के अनुसार, एक 'आत्मा' सभी लोगों में पायी जाती है। इस प्रकार, सभी व्यक्तियों में मौलिक समानता विद्यमान हैं।

महायान विश्व से पलायन का घोर विरोध करता है। महायान विरोध को पूर्णतया सत्य नहीं मानता। फिर भी, इसका कहना है कि विश्व में सतत् क्रियाशील रहते हुए व्यक्ति अपना उत्थान कर सकता है और मोक्ष या निर्वाण भी प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार, यहाँ भिक्षु-जीवन एवं सन्यास-व्रत का विरोध किया गया है। जीवन की समस्याओं से भागना कायरता है। विश्व में रहते हुए हमें अपनी समस्याओं का समाधान ढूँढ़ना चाहिए। इसी भावना के कारण बौद्ध धर्म कुछ समय के लिये राजधर्म बन गया था। बौद्धधर्म की सफलता की विवेचना करते हुए डॉ. राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक भारतीय दर्शन, भाग एक में ठीक ही लिखा है— "एक ऐसे देश में जहां हजार वर्ष से भी अधिक काल तक ब्राह्मण या पौराणिक धर्म एक प्रचलित धर्म के

रूप में रहा हो, बौद्ध धर्म को उसकी जड़े खोखली करने में सफलता मिल गई और इतना ही नहीं अपितु लगभग दो सो वर्षों की ही अवधि में वह भारत का राज धर्म भी हो गया। इस्लाम एवं ईसाई धर्म जैसे प्रचारक धर्मों को संसार के किसी भाग में इस प्रकार की अद्भूत सफलता नहीं मिली।”

महायान निर्वाण के भावात्मक पक्ष (positive aspect) पर जोर देता है। इसके अनुसार, निर्वाण केवल दुःखरहित अवस्था नहीं है, बल्कि यह आनन्दमय अवस्था है। महायान और शंकर के मोक्ष-सम्बन्धी विचार समान हैं। शंकर भी मोक्ष को आनन्दमय मानते हैं। मोक्ष अथवा निर्वाण में एक प्रकार के अद्भूत विशुद्ध आनन्द की अनुभूति होती है।

महायान की सबसे मुख्य विशेषता 'बोधिसत्त्व' की अवस्था है। यही मानव जीवन का लक्ष्य है। यहाँ वैयक्तिक मोक्ष के स्थान पर सामूहिक मोक्ष की महत्ता बतलायी गयी है। व्यक्ति को अपने निर्वाण से ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। सभी प्राणियों को निर्वाण की प्राप्ति कराना ही मानव का अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए। यही महान् आदर्श 'बोधिसत्त्व' कहा जाता है।

'बोधिसत्त्व' का शाब्दिक अर्थ है 'ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति'। किन्तु महायान में इसको एक विशेष

अर्थ में रखा गया है। यहाँ बोधिसत्त्व उसे कहते हैं, जो महान् आदर्श के रूप में बोधिसत्त्व को प्राप्त कर लेता है। ये व्यक्ति लोक कल्याण की भावना से ओत:प्रोत होकर सदैव सक्रिय रहते हैं। महायान के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति में ' बोधिसत्त्व' प्राप्त करने की क्षमता पायी जाती है। प्रत्येक व्यक्ति को संभाव्य बुद्ध' (potential Buddha) कहा जा सकता है। व्यक्ति को वास्तविक बुद्ध होने के लिए अथक परिश्रम एवं साधना की आवश्यकता है। माध्यमिक कारिका के अध्ययन से भी इस बात की सम्पुष्टि हो जाती है।

बोधिसत्त्व में करुणा का भाव विद्यमान है। सभी प्राणियों के लिए इनके हृदय में करुणा का सागर लहराता रहता है। ये विश्व में रहते हुए भी विश्व के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रहते हैं। इनकी उपमा कमल से की जा सकती है। कीचड़ में रहकर भी कीचड़ से मुक्त यानी निर्मल रहता है। विश्व में रहकर भी इसमें आसक्ति न रखना ही बोधिसत्त्व की वास्तविक पहचान है।

बोधिसत्त्व केवल अपने निर्वाण से ही सन्तुष्ट नहीं रहता। वह स्वयं मुक्त होकर भी अन्य को मुक्ति दिलाना चाहता है। यानी अन्य सभी प्राणियों को भी दुःखों से मुक्त करना चाहता है। वह लोक कल्याण के लिए सदैव सक्रिय रहता है। इस प्रकार,

महायान एक उच्च एवं व्यापक आदर्श प्रस्तुत करता है। यहाँ बोधिसत्त्व के सिद्धान्त और बुद्ध के वास्तविक जीवन में संगति दीख पड़ती है। बुद्ध ने भी निर्वाण-प्राप्ति के बाद अपनी मृत्यु के समय तक परमार्थ एवं लोकहित के कार्य में अपने को संलग्न रखा। दूसरों के लिए वे सदैव दुःख झेलने के लिए तैयार रहते थे।³

डॉ. राधाकृष्णन ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है। इन्होंने भारतीय दर्शन के प्रथम भाग में लिखा है— ऐसे व्यक्तियों को जो अन्तिम मुक्ति को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, इन छः अतीन्द्रिय गुणों का कठोरता पूर्वक अभ्यास करना चाहिए— दानशीलता, नैतिकता, धैर्य, उद्योग, ध्यान एवं सर्वोपरि ज्ञान। इनमें पूर्णता प्राप्त करनी चाहिए। यदि हम यह प्रश्न करें कि एक बोधिसत्त्व जो सब वस्तुओं की अयथार्थता को जानता है, क्यों दूसरों का उनके पापों से उद्धार करने का प्रयत्न करता है? इस का उत्तर वज्र-द्वेदिका के शब्दों में इस प्रकार दिया जा सकता है, “जिसने बोधि सत्त्व के मार्ग में पग रखा है। मुझे सब प्राणियों को दुःख से छुटकारा दिलाकर निर्वाण के पूर्णता युक्त जगत् में पहुंचाना है। बोधि सत्त्व को पदार्थों को यथार्थ मानकर किसी वस्तु का दान नहीं देना चाहिए।”

महायान में आगे चलकर स्वयं बुद्ध को ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। उन्हें अवतार के रूप में समझा गया है। जातक कथाओं में बुद्ध के बोधिसत्त्व प्राप्त करने के पूर्व के सभी अवतारों का वर्णन किया गया है। परम तत्त्व को साधारणतः अवर्णनीय (indescribable) माना जाता है। किन्तु महायान में 'धर्मकाय' के रूप में इसकी अभिव्यक्ति संभव है। बुद्ध धर्मकाय के रूप में लोक कल्याण की चिन्ता करते दीख पड़ते हैं।

महायान-ग्रन्थ 'सद्धर्म पुण्डरीय' के अनुसार, सच्चे प्रेम से बुद्ध को एक पुष्प भी अर्पित करने से अनन्त सुख मिलता है। ईश्वर के रूप में बुद्ध को प्रतिष्ठित करके महायान धार्मिक वृत्ति को सन्तुष्ट कर पाता है। योग चार एवं माध्यमिक सम्प्रदाय महायानी हैं। इन्हें आदर्शवादी माना जाता है। असंग एवं इनके छोटे भाई वसु बन्धु ने जो दिकनाग का गुरु था, ने मिलकर विज्ञानवाद अथवा योग चार के आदर्शवाद परक मत की स्थापना की है।

असंग ने महायान की सात विशेषताओं की चर्चा की है—

1. महायान विस्तृत (comprehensive) अर्थात् व्यापक है।
2. यह सभी जीवों के प्रति समान प्रेम का समर्थक है।

3. श्रेय (object) और ज्ञाता (subject) को परम तत्त्व के रूप में न मानकर केवल चैतन्य (consciousness) का एकमात्र अंश (सत्य) घोषित करके महायान बौद्धिकता का परिचय देता है।
4. बोधिसत्त्व की प्राप्ति इसका चरम आदर्श है। बोधिसत्त्व को लोक कल्याण के कार्य में अत्यधिक समर्थ माना गया है।
5. इसका कहना है कि बुद्ध ने विभिन्न व्यक्तियों को उनके स्वभाव एवं समझ के आधार पर ही अलग-अलग उपदेश दिया है।
6. इसका चरम लक्ष्य (highest end) 'बुद्धत्व' की प्राप्ति है।
7. इसका विश्वास है कि बुद्ध विश्व के सभी प्राणियों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम हैं। अभिधम्म पिटक और विनय पिटक से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है।

हीनयान सम्प्रदाय

हीनयान बुद्ध के उपदेशों पर आधारित है। बौद्ध दर्शन के प्रारंभिक विचारों को मानने के कारण इसे मौलिक एवं प्रारंभिक धर्म कहा जाता है। इसका प्रचार श्याम, लंका, बर्मा आदि देशों में पाया जाता है।

हीनयान के अनुसार, सभी वस्तुएँ क्षणभंगूर हैं। कोई भी वस्तु नित्य (eternal) एवं स्थायी (permanent) नहीं है। यहाँ शाश्वत आत्मा के अस्तित्व का निषेध किया गया है। इसमें अनात्मवाद (the theory of not-self) का समर्थन किया गया है।

हीनयान में ईश्वर की सत्ता का खंडन किया गया है। यह जैन की भाँति अनीश्वरवादी है। यहाँ ईश्वर का स्थान 'धम्म' और 'कम्म' को दिया गया है। व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार शरीर, मन एवं निवास स्थल प्राप्त करता है। 'धम्म' व्यक्ति को कर्म-फल प्रदान करता है। इसीलिए 'धम्म' को विश्व का नियामक माना गया है। धम्म के अतिरिक्त यहाँ 'संघ' को भी महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। 'संघ' में निष्ठा रखना अनिवार्य माना जाता है। बौद्ध धर्म के प्रत्येक अनुयायी को 'बुद्धं शरण गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघम् शरणं गच्छामि' (I take refuge in the Buddha, in the Law and in the Congregation) का पवित्र व्रत लेना पड़ता है। बौद्ध धर्म में कम्म, धम्म एवं संघ तीनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दयानन्द सरस्वती ने भी सत्यार्थ प्रकाश नामक पुस्तक में उपर्युक्त बातों की पुष्टि की है।

हीनयान में निर्वाण की प्राप्ति जीवन का चम लक्ष्य माना गया है। इसके अनुसार, निर्वाण का अर्थ 'बुझ जाना' (to be

extinguished) है। जिस प्रकार दीपक के बुझते ही प्रकाश खत्म हो जाता है, उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त व्यक्ति या 'अर्हत' के दु'खों' का नाश हो जाता है। यहाँ निर्वाण के निषेधात्मक पक्ष पर ही जोर दिया गया है। इसके भावात्मक पक्ष की पूर्ण अवहेलना की गयी है। इसीलिए इनके निर्वाण सम्बन्धी विचार को सन्तोषप्रद नहीं कहा जाता है। डॉ. राधाकृष्णन एवं रामधारीसिंह दिनकर ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है। नेहरूजी ने भारत की खोज नामक पुस्तक में भी इस बात की चर्चा की है।

हीनयान में 'स्वालम्बन' पर अधिक जोर दिया गया है। व्यक्ति को स्वयं अपने प्रयास से निर्वाण प्राप्त करना चाहिए। इसके लिए उसे बुद्ध के चार आर्य-सत्यों (four noble truths) का अध्ययन, मनन एवं चिन्तन करना चाहिए। बुद्ध का यह कथन उल्लेखनीय है—'आत्म दीपो भव'। उनके अन्तिम शब्द इस प्रकार हैं—सभी सावयव पदार्थ नश्वर हैं। परिश्रम द्वारा ही व्यक्ति को मोक्ष पाने की चेष्टा करनी चाहिए।" यहाँ आत्मनिर्भरता अर्थात् स्वावलम्बन पर जोर दिया गया है। विनय पिटक और धम्मपद में भी इस बात की पुष्टि की गई है।

हीनयान में आत्मचेष्टा पर अधिक जोर दिया गया है। व्यक्ति को अपने ही परिश्रम से निर्वाण प्राप्त करने का प्रयास

करना चाहिए। इस प्रकार, इसमें कठिन आदर्श की चर्चा हुई है। इसलिए इसे 'कठिन यान' (difficult path) भी कहा जाता है।

हीनयान में व्यक्तिगत मोक्ष (individual salvation) को ही आदर्श माना जाता है। हीनयानी अपने ही निर्वाण के लिए सचेष्ट रहता है। यहाँ सामूहिक मोक्ष (collective salvation) को मान्यता नहीं दी जाती। मोक्ष का यह विचार संकुचित है। लोक कल्याण की भावना के स्थान पर यहाँ स्वार्थ भावना को प्रश्रय दिया जाता है। हीनयान के संकुचित विचारों की संगति बुद्ध के व्यावहारिक जीवन से नहीं बैठती। बुद्ध ने सभी प्राणियों के निर्वाण को जीवन का आदर्श बतलाया। लोक कल्याण के कार्यों में वे मृत्युपर्यन्त सक्रिय रहे। स्वार्थ भावना उनके लिए अत्यन्त तुच्छ थी। त्रिपिटक एवं धम्मपद से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है। डॉ. राधाकृष्णन् और सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

हीनयान में 'संन्यास' पर अत्यधिक जोर दिया गया है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए व्यक्ति को इन्द्रियों पर कठोर नियन्त्रण रखना चाहिए। जीवन की अनित्यता एवं क्षणभंगूरता का दर्शन श्मशान घाट पर जाकर किया जा सकता है। सामाजिक जीवन आसक्ति उत्पन्न करता है, जिसके फलस्वरूप दुःख की उत्पत्ति

होती है। इसलिए हीनयानी दुःख से मुक्ति के लिए सामाजिक जीवन को त्यागकर बैरागी एवं संन्यासी होने की आकांक्षा रखते हैं। पारिवारिक जीवन व्यक्ति के लिए एक प्रकार का बंधन है। अतः इस बंधन से मुक्त होकर संन्यासी के रूप में व्यक्ति को मोक्ष प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए।

डॉ. राधाकृष्णन ने इन्डियन फिलॉसॉफी के प्रथम भाग में बौद्धों के चार सम्प्रदायों की चर्चा की है। इनमें से दो का सम्बन्ध हीनयान से है और दो का महायान से। वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदाय हीनयानी कहलाते हैं। ये यथार्थवादी अथवा सर्वास्तित्वादी हैं। इनका विश्वास है कि देश और काल की अवधि में जकड़ा हुआ यह विश्व यथार्थ है। इसमें मन की स्थिति भी अन्य सीमित वस्तुओं के साथ ही एक समान है। ये हीनयान शाखा के सम्प्रदाय हैं।

हीनयानी बुद्ध को असाधारण व्यक्ति एवं महात्मा के रूप में ग्रहण करते हैं। वे साधारण मानव से ऊपर थे। उनकी प्रतिभा अत्यन्त विलक्षण थी। अपनी तपस्या के बल पर उन्होंने यह प्रतिभा प्राप्त की थी। प्रत्येक व्यक्ति में बुद्ध बनने की क्षमता नहीं है। त्याग, तपस्या से ही कोई बुद्ध के गुणों से विभूषित हो सकता

है। यहाँ बुद्ध को ईश्वर के रूप में ग्रहण नहीं किया गया है। इसकी उपासना भी नहीं की जाती है।

हीनयान के द्वारा कम ही लोग मोक्ष या निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ अत्यधिक कठोर आदर्श पाया जाता है, जिसका पालन सब के लिए संभव नहीं है। हीनयान एक ऐसा मार्ग है, जिस पर कम ही लोग चलकर मोक्ष पा सकते हैं। यही कारण है कि हीनयान को 'छोटी गाड़ी' या 'संकीर्ण पथ' कहा गया है। डॉ. राधाकृष्णन्, रवीन्द्रनाथ टैगोर, राहुल सांकृत्यायन, सी. डी. शर्मा आदि ने भी इस बात की पुष्टि की है। दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश नामक पुस्तक में दोनों सम्प्रदायों की आलोचना की है और निवैक्तिक ईश्वर का समर्थन किया है। इसका मतलब यह नहीं कि इस मत का कोई महत्त्व नहीं है। दरअसल बुद्ध के व्यक्तित्व और कृतित्व के कारण ही उन्हें ईश्वर का अवतार माना गया है। गीत गोविन्द में इस बात की पुष्टि की गई है। इनका महायान सम्प्रदाय आज भी सक्रिय नजर आता है। अर्थात् इनकी प्रासंगिकता आज भी है।

References

1. "Nirvana is the same thing as a sinless calm state of mind, and may be best rendered holiness, perfect peace, goodness and wisdom".
2. The God of Mahayana is a God of love and lays great stress on devotion".
3. Let all the sins and miseries of the world fall upon my shoulders so that all the beings may be liberated from them".

अध्याय-3
इस्लाम धर्म
(Islam)

इस्लाम धर्म बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म की भाँति व्यक्ति विशेष की देन है। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक बुद्ध, ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा मसीह और इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब हैं। बौद्ध धर्म और ईसाई धर्मों की भाँति इस्लाम धर्म भी शीघ्रता से विकसित होकर विश्व-धर्म के रूप में प्रकट हो गया। एनसाइक्लोपिडिया ब्रिटानिका में बतलाया गया है— Among Arabic speaking people, from earliest recorded times until the rise of Islam in the seventh century A.D.¹ गैलवे ने तो इस्लाम की प्रगति को बौद्ध और ईसाई-धर्म की अपेक्षा अधिक तीव्र बतलाया है।²

हजरत मुहम्मद साहब का जन्म अरब के मक्का नामक स्थान में हुआ था। अरब उस समय अन्धविश्वास, मूर्तिपूजा, नरबलि, व्यभिचार, मद्यपान आदि कुकुर्मों का अड्डा बना हुआ था। अरबवासी अन्धकार में भटक रहे थे। हजरत मुहम्मद ने उन्हें सही रास्ते पर लाने के लिए एक नये धर्म की स्थापना की है। इसी नवीन धर्म को 'इस्लाम' कहा जाता है। Arabian religions under the name "Arabian religious" are grouped the cults that flourished

in the Arabian peninsula or in adjoining area. Nature and significance in the modern word Arabia has been so frequently and so thoroughly linked with the religious traditions of Islam that its pre-Islamic religious history has recalled relatively little attention (do, p. 1057). Yet Pre-Islamic Arabia had a rich and diverse culture in which the primitive and the cosmopolitan the urban and nomadic after where found side by side (do, 1057). Pre-Islamic Arabian religion is commonly understood theistic (Abid, p. 1057). उन्होंने अपने को ईश्वर का दूत बतलाया आर घोषणा की कि अल्लाह (अर्थात् ईश्वर) ने उन्हें मानव को उचित मार्ग दिखलाने के लिए धरती पर भेजा है।

इस्लाम धर्म का स्वरूप

‘इस्लाम’ का शाब्दिक अर्थ होता है ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण (Submission to God)। यहाँ एक ही ईश्वर की आराधना की जाती है। अनेक देवी-देवताओं की पूजा का यहाँ घोर विरोध किया जाता है। मूर्ति-पूजा इस्लाम के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है। एकेश्वरवाद (Monotheism) का यह एक सुन्दर उदाहरण है।

इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों के मूल स्रोत चार ग्रन्थ माने जाते हैं—कुरान, (Quran), सुन्न, (Sunna), इज्म (Ijma), और कीआस(Quas)। इन चारों में कुरान सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। जिस प्रकार

ईसाइयों के लिए बाइबिल और हिन्दुओं के लिए वेद—पुराण पवित्र धार्मिक ग्रन्थ हैं, ठीक उसी प्रकार मुसलमानों के लिए 'कुरान' महान् धार्मिक ग्रन्थ है। इसमें ईश्वर द्वारा मुहम्मद साहब को दिये गये सभी आदेश एवं सन्देश संग्रहित हैं।

जिस प्रकार वेद ईश्वरकृत माने जाते हैं, ठीक उसी प्रकार कुरान को अल्लाह का शब्द समझा जाता है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल, मधुर एवं आकर्षक है। कुरान में मुहम्मद साहब को अन्तिम पैगम्बर बतलाया गया है। मुहम्मद के सन्देश को मानना प्रत्येक मुसलमान का पवित्र कर्तव्य है। कुरान में 144 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में अनेक आयत अर्थात् खण्ड होते हैं। विश्व के उत्तम साहित्यों में कुरान की गणना की जाती है। मुहम्मद साहब स्वयं अधिक पढ़े—लिखे नहीं थे, फिर भी उनकी रचनाएँ विद्वतापूर्ण हैं। ये रचनाएँ, उनके अनुसार, ईश्वर के सन्देश हैं। 'सुन्न' (Sunna) का स्थान कुरान के बाद आता है। इसमें पैगम्बरों के रीति—रिवाजों, आदतों एवं मानवीय नैतिक कर्मों का सुन्दर चित्रण हुआ है। अन्त में 'इज्म' और 'कीआस' का स्थान आता है। इन पुस्तकों में भी इस्लाम के उपदेश पाये जाते हैं।

इस्लाम की सामान्य विशेषताएँ

इस्लाम धर्म एक विश्व—धर्म के रूप में माना जाता है। इसकी मुख्य विशेषताएँ ये हैं—

- (1) यह ऐकेश्वरवादी धर्म (Monotheistic religion) का उदाहरण है। यहाँ विभिन्न देवों की पूजा नहीं की जाती। इस्लाम केवल एक ही ईश्वर में विश्वास करता है। ईश्वर को यहाँ 'अल्लाह' या खुदा कहा जाता है। हजरत मुहम्मद ईश्वर के दूत माने जाते हैं।³
- (2) इस्लाम एक अत्यन्त सरल, स्पष्ट एवं व्यावहारिक धर्म है। इसका पालन सर्व सुलभ है। अशिक्षित—शिक्षित, गरीब—अमीर सभी समान रूप से इस्लाम के निर्धारित मार्ग पर चल सकते हैं। इसीलिये रहीम ने श्रीकृष्ण और सुदामा की मित्रता का बखान किया है। सुदामा बिल्कुल गरीब थे किन्तु श्री के मित्र थे। इनका स्मरण दिलाना मानव मात्र से मित्रता बतलाया है।
- (3) इस धर्म में सभी प्राणियों के प्रति प्रेम, दया एवं सहानुभूति रखने की शिक्षा दी जाती है। ईश्वर उसी व्यक्ति से सन्तुष्ट रहते हैं, जो उनकी सन्तानों को प्यार करता है। जो ईश्वर की रचनाओं से प्रेम नहीं रखते, उन्हें ईश्वर का प्रेम नहीं मिलता। "God will not be affectionate to that man who is not affectionate to God's creatures. He is the most favoured of God from whom the greatest good comes to his creatures. The best of man is he from whom good occurs to all humanity."

अल्लाह की सन्तानों (सभी जीवों) को अपने परिवार के सदस्य के रूप में मानना, गरीबों एवं दुर्बलों की सहायता करना, पददलितों की मदद करना एवं आपस में किसी प्रकार का छुआछुत एवं भेदभाव नहीं मानना इस्लाम की मुख्य विशेषता है। रामधारी दिनकर ने संस्कृति के चार अध्याय और जवाहरलाल नेहरू ने भारत की खोज नामक पुस्तक में भी इस बात की चर्चा की है।

- (4) इस्लाम विश्व-बन्धुत्व की भावना पर आधारित है। प्राणि मात्र की सेवा किये बिना ईश्वर को सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। सेवा की भावना इस्लाम में कूट-कूट कर भरी है। यहाँ दार्शनिक चिन्तन से अधिक नैतिकता एवं आचार पर जोर दिया गया है। मानव कर्म करने में स्वतन्त्र है। उसे अपने कर्मों से प्राणि मात्र की सेवा करनी चाहिये। कुराण शरीफ के साथ साथ सूफी कवियों ने भी अपनी रचनाओं में इस बात की पुष्टि की है। रसखान, जायसी आदि इसके प्रमुख समर्थक माने जाते हैं। इकबाल ने भी प्राणि मात्र के लिये प्रेम का संदेश दिया है।
- (5) इस्लाम धर्म में हिंसा (violence) को साधारणतः अवांछनीय एवं त्याज्य माना गया है। युद्ध, झगड़ा एवं अन्य संघर्ष का निषेध किया गया है। चूंकि सभी मनुष्य एक ही अल्लाह की

सन्तान हैं, इसलिए इनमें संघर्ष, लड़ाई-झगड़ा आदि का विरोध किया गया है। किन्तु हजरत मुहम्मद ने विशेष परिस्थिति में हिंसा एवं शस्त्र-प्रयोग को उचित ठहराया है। अस्त्र एवं शस्त्र का प्रयोग केवल दो स्थितियों में उचित माना गया है। (1) आत्मरक्षा (self-defence)के लिए और (2) इस्लाम की रक्षा के लिए। जब किसी व्यक्ति की जान खतरे में हो या इस्लाम-धर्म पर संकट आ जाए तो दोनों ही हालतों में मुसलमानों को शस्त्र उठाने का आदेश दिया गया है। इन दो अवस्थाओं के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर शस्त्र प्रयोग का निषेध किया गया है। जिहाद शब्द का प्रयोग समान परिस्थिति में वर्जित माना गया है। व्यक्तिगत स्वार्थ का परित्याग आवश्यक है। जन कल्याण अथवा धर्म पर विपत्ति आने पर ही जिहाद की बातें की जा सकती हैं।

- (6) इस्लाम में हृदय की पवित्रता (purity of heart) और सत्य-पालन का आदेश दिया गया है। यह विशेषता केवल इस्लाम धर्म की नहीं है बल्कि अन्य धर्मों की भी है। प्रायः अन्य सभी धर्मों ने इसको अपनाने की सलाह दी गई है। व्यक्ति को अपने हृदय से बुरे विचारों को निकाल कर बाहर फेंक देना चाहिए और इसमें उच्च विचारों को भरना चाहिए। अपवित्र हृदय में दूसरों के प्रति ईर्ष्या-द्वेष, घृणा आदि के

भाव रहते हैं। मुहम्मद साहब ने सत्य (truth) के पालन और असत्य से दूर हटने की सलाह दी है।³

इनके अनुसार, सत्य शुभ का प्रतीक है, जो हमें स्वर्ग ले जाता है। और असत्य दुष्टता या अशुभ का प्रतीक है जो हमें नर्क अथवा जहन्नूम में ढकेलता है। बी. रसेल ने भी हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसॉफी में इस बात की पुष्टि की है। नेहरू और महात्मा गाँधी ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

- (7) इस्लाम धर्म गाली—गलौज, कोध, चुगली, रक्तपात, घुंसखोरी, बेईमानी, मद्यपान, ईर्ष्या—द्वेष, खुशामद, लोभ, कंजूसी, सूदखोरी, आत्महत्या, हिंसा, लड़ाई—झगड़ा आदि को अवांछनीय एवं हेय मानता है। ये सभी अधर्म एवं पाप के प्रतीक हैं। इसलिए इनका बहिष्कार आवश्यक है, यह इस्लाम का निषेधात्मक पक्ष है।
- (8) इस्लाम का भावनात्मक पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यहाँ कई प्रकार के पुण्यों (virtues) को अपनाने की सलाह दी गयी है। ये पुण्य हैं—भाईचारा, उदारता, दानशीलता, क्षमाशीलता, मित्रता, कृतज्ञता, नम्रता, न्यायप्रियता, दयालुता, प्रेम, सत्य, विश्वास, ईमानदारी आदि। इसको जीवन में

उतारना प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। कुरान के अध्ययन से इस बात की पुष्टि हो जाती है।

उपर्युक्त विशेषताओं को देखने से ऐसा लगता है कि इस्लाम धर्म को एक उच्च कोटि का धर्म कहा जा सकता है। धर्म के महान् तत्त्व इसमें विद्यमान हैं। यही कारण है कि यह अधिकतम लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ हो सका है। हुमायु और अकबर को अब भी याद किया जाता है।

इस्लाम में ईश्वर विचार

इस्लाम का केन्द्र-बिन्दु ईश्वर है। इस्लाम का अर्थ 'ईश्वर की इच्छा के प्रति आत्मसमर्पण' (Submission to the will of God) होता है। कुरान में कहा गया है कि 'अल्लाह' के सिवा कोई दूसरा ईश्वर नहीं है' (There is no God but Allah)। यह अल्लाह एक तथा पूर्ण है। इसके सिवा किसी अन्य को ईश्वर नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक से अधिक ईश्वर होने से अल्लाह सीमित हो जाएगा। इस प्रकार, इस्लाम धर्म एकेश्वरवादी धर्म (Monotheistic religion) का सुन्दर उदाहरण है। महात्मा गाँधी ने भी इस बात की पुष्टि की है।

इस्लाम का एकेश्वरवाद, अनेकेश्वरवाद (polytheism) के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप है। मुहम्मद साहब के जमाने में मूर्ति पूजा की प्राधानता थी। सूर्य, चन्द्र, तारे आदि विभिन्न देवों की

पूजा की जा रही थी। मुहम्मद साहब ने अनेक देवों की आराधना एवं मूर्ति पूजा का घोर विरोध किया है। उन्होंने केवल एक अल्लाह की आराधना का सन्देश दिया। इस प्रकार, मूर्ति पूजा एवं अनेकेश्वरवाद के विरोध में ही एकेश्वरवाद का उदय हुआ। दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश नामक पुस्तक में भी इस बात की पुष्टि की है।

इस्लाम ईश्वर को निर्विकार मानता है। इसके अनुसार, ईश्वर के स्वरूप की कल्पना मानव-बुद्धि के बश के बाहर है। ईश्वर न तो स्वयं कोई द्रव्य है और न इसमें कोई अन्य द्रव्य (Substance) विद्यमान है। यह न तो स्वयं कोई आकस्मिक घटना है, और न इसमें कोई घटना अन्तर्निहित है। ईश्वर विश्व की वस्तुओं से भिन्न एवं अनूठा (unique) है। वह समय और दूरी (time and space) की उत्पत्ति के पूर्व से ही विद्यमान है। वह सर्वशक्तिमान, पवित्र एवं अपरिवर्तनशील है। गैलवे, ब्राइटमैन और रसेल ने इस बात की पुष्टि की है।

यह ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है। इसमें इच्छा पायी जाती है। ईश्वर नित्य (eternal) है। यह सर्वशक्तिशाली (all-powerful) है। गैलवे के अनुसार, इस्लाम के ईश्वर की एकता और उसकी असीम शक्ति इस धर्म की सर्वप्रथम विशेषता है। विश्व में कुछ भी करने की क्षमता इसमें विद्यमान है। यह ईश्वर सर्वज्ञाता है। कोई

भी कार्य ईश्वर से छिपकर नहीं किया जा सकता। "वह समुद्र और धरती की हर वस्तु को जानता है, एक पत्ता भी उसके जाने बिना नहीं गिर सकता।"⁴ वह अजेय एवं अविनाशी है। रहीम कवि, रसखान आदि ने भी इस बात की पुष्टि की है।

अन्य ईश्वरवादी धर्मों की भाँति इस्लाम धर्म भी ईश्वर को विश्व का रचयिता मानता है। एक कुशल निर्माता की तरह उसमें सम्पूर्ण विश्व की रचना की है। वह स्वर्ग और नर्क का भी निर्माता है। विश्व की कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो उसकी रचना न कही जा सके। ईश्वर सृष्टि का रचयिता होने के साथ-ही-साथ विश्व का "पालन कर्ता एवं संहारक भी है। कुरान में कहा गया है—"अल्लाह मारता भी है और जिलाता भी है।"

इस्लाम का ईश्वर अत्यन्त दयालु एवं करुणामय (merciful) है। वह मानव की सभी आवश्यकताओं पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करता है। वह पीड़ितों एवं दलितों का उद्धारक है। मानव की भूलों को वह क्षमा कर देता है। मनुष्य के लिए भोजन-पानी का प्रबंध करने वाला ईश्वर ही है। इसीलिए मानव ईश्वर की पूजा करता है और अपना परम आदर्श मानता है। मोहम्मद साहेब के अनुयायियों ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

ईश्वर न्यायी एवं अनुरागी है। वह कयामत के दिन सभी जीवों को उनके कर्मानुसार फल देता है। वह किसी के प्रति अन्याय नहीं कर सकता। वह उस व्यक्ति को प्यार करता है, जो अन्य जीवों के प्रति प्रेम-भाव रखता है। मोहम्मद इकबाल ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

इस्लाम के सृष्टिवाद के अनुसार, ईश्वर बिना उपादान-कारण (material cause) के ही विश्व की सृष्टि करता है। यदि उसे स्वयं उपादान-कारण मान लिया जाए तो उसको निर्विकार नहीं कहा जा सकता। किन्तु इस्लाम ईश्वर को निर्विकार बतलाता है। पुनः यदि यह कहा जाय कि उसे अन्य उपादान-कारण की आवश्यकता पड़ती है, तो इससे उसकी सर्वशाक्तिमत्ता खंडित होती है। इसलिए इस्लाम के अनुसार, ईश्वर शून्य से विश्व का निर्माण करता है। सृष्टिवाद का यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है। शून्य से शून्य की ही उत्पत्ति होती है। शून्य से विश्व की उत्पत्ति संभव नहीं। इसीलिये आदि शंकराचार्य ने शून्यवाद की आलोचना की है। यद्यपि उन्होंने इसके खिलाफ अपना तर्क प्रस्तुत किया है, किन्तु यह इस्लाम पर भी लागू होता है।

ईश्वर और मानव के बीच वहीं सम्बन्ध है, जो स्वामी और दास के बीच रहता है। ईश्वर स्वामी है और मानव उसका दास

है। ईश्वर और मानव दोनों ही व्यक्ति हैं। इस्लाम व्यक्ति की महत्ता जोरदार शब्दों में स्वीकार करता है। दोनों ही व्यक्ति होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं। ईश्वर की अपनी अजीब वैयक्तिक विशिष्टता है, जिसके कारण वह मानव से सर्वथा भिन्न है।

विश्व ईश्वर की सृष्टि है। ईश्वर ने इसे अपनी इच्छा से सँवारा है। विश्व वास्तविक है। इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है। इस्लाम का यह मत पाश्चात्य विचारक लाइबनीज (Leibnitz) के मत से मिलता-जुलता है। लाइबनीज के अनुसार, यह विश्व सभी संभव विश्वों में श्रेष्ठतम है। (This world is the best of all possible worlds.)

अब प्रश्न है—मानव को ईश्वर का ज्ञान कैसे होता है? इस्लाम के अनुसार, ईश्वर के स्वरूप की कल्पना करना मानव-बुद्धि के लिए असंभव है। इसका ज्ञान अनुभव या उपमान द्वारा भी संभव नहीं है। इसके समान विश्व में कोई वस्तु नहीं है, इसलिए उपमा या सादृश्यता के आधार पर इसके विषय में कोई ज्ञान नहीं हो सकता। अन्तर्दृष्टि के द्वारा ही ईश्वर को जाना जा सकता है। अन्तर्दृष्टि भी तभी तक सहायक है, जब ईश्वर स्वयं मानव को अपना दर्शन देना चाहता है। दूसरे शब्दों में, ईश्वर की दया होने पर ही मानव उसका दर्शन कर सकता है। फिर भी, ईश्वर-प्राप्ति के लिए मानव को 'नमाज' और आत्मसमर्पण के

आधार पर सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए। मोहम्मद इकबाल ने भी इस बात की पुष्टि की है।

ईश्वर के गुण

इस्लाम धर्म ईश्वर के गुणों को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। इस्लाम धर्म में ईश्वर के सात शाश्वत गुणों का उल्लेख किया गया है। ये सात शाश्वत (eternal attributes) गुण इस प्रकार हैं:— (1) जीवन, (life) (2) ज्ञान (knowledge), (3) अनन्त शक्ति (omnipotence), (4) संकल्प, (will) (5) श्रवण (sight) (6) दृष्टि और (7) वचन (speech)। दयानन्द सरस्वती ने भी अपनी पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश में इस बात की पुष्टि की है।

इस्लाम धर्म में ईश्वर जीवन का प्रतीक माना गया है। यह सदैव जीवित है एवं सभी जीवों का अधार है। वह सर्वज्ञ (all-knowing) है। बिना उसकी जानकारी के एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। वह सर्वशाक्तशाली एवं असीम है। वह संकल्पमय है। बी. रसेल ने भी इस बात की चर्चा की है। उसकी इच्छा से ही विश्व का संचालन होता है। वह जीवों के कर्मों पर निर्णय देता है। ईश्वर भक्तों की पुकार सुनने में समर्थ होता सम्पूर्ण विश्व उसकी दृष्टि में रहता है। वह वाणीयुक्त है। वह वचन के माध्यम से मानव को अपना सन्देश देता रहता है। यहाँ दृष्टि और वचन को भौतिक अर्थ में नहीं लिया गया है।

अल्लाह को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। कुरान में अल्लाह के सहस्र नामों का उल्लेख है। इसके कुछ प्रमुख नाम ये हैं— एक (The one), शाक्तिमान (The powerful), दण्ड देनेवाला (The Avenger), शासक, कृपाशील (The Compassionate) इत्यादि। ईश्वरीय कृपा ही मानव कल्याण के लिये एक मात्र उपाय है। प्रेम और श्रद्धा से ही उसकी कृपा मिल सकती है। मोहम्मद इकबाल ने भी इस बात की पुष्टि की है।

इस्लाम के आवश्यक सिद्धान्त

इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों एवं कर्तव्यों को दो खण्डों में बाँटा जा सकता है—(1) सैद्धान्तिक खण्ड—इसमें इस्लाम के मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन है। इस खण्ड को 'इमाम' कहते हैं। इसके सिद्धान्तों में आस्था रखना प्रत्येक मुसलमान के लिए आवश्यक माना गया है। ये ही इस्लाम के मूल आधारभूत सिद्धान्त हैं। (2) व्यावहारिक खण्ड—इसमें धार्मिक कर्तव्यों की व्याख्या हुई है। इस खण्ड को 'दीन' कहते हैं। यहाँ हमें इस्लाम के आधारभूत सिद्धान्तों पर ही विश्वास करना सिखाया जाता है।

इस्लाम के आधारभूत सिद्धान्त ये हैं—

(1) एक ईश्वर में विश्वास (Belief in one God)

इस्लाम धर्म एकेश्वरवाद (monotheism) का सुन्दर उदाहरण है। यहाँ केवल एक अल्लाह के सिवा किसी अन्य ईश्वर

की चर्चा नहीं होती। प्रत्येक मुसलमान का यह पवित्र कर्तव्य है कि वह एक ही अल्लाह में श्रद्धा रखे। यहाँ अनेकेश्वरवाद (polytheism), एवं मूर्तिपूजा(idol-worship) का पूर्ण विरोध किया गया है। ईश्वर एक, सर्वशक्तिशाली, सर्वज्ञ, दयालु, न्यायप्रिय एवं व्यक्तित्वपूर्ण है।

यह निर्विकार होने पर भी शाश्वत गुणों से युक्त है। इसके शाश्वत गुण हैं—अनन्त शक्ति, जीवन, सर्वज्ञान, वचन, दृष्टि, संकल्प और श्रवण। ईश्वर के समान कोई वस्तु विश्व में नहीं है। इसलिए सादृश्य या उपमान के द्वारा इसका ज्ञान नहीं हो सकता। अनुमान द्वारा भी इसे नहीं जाना जा सकता है। इसके स्वरूप की कल्पना करने में मानव बुद्धि असमर्थ है। ईश्वर की कृपा होने पर ही इसे व्यक्ति अपनी अन्तर्दृष्टि द्वारा जान सकता है। मोहम्मद इकबाल ने भी इस बात की पुष्टि की है।

विश्व में घटनेवाली प्रत्येक घटना का कारण ईश्वर है। उसने बिना किसी उपादान के ही विश्व की रचना की है। इससे उसकी शक्ति का पता चलता है। वह विश्व का रचयिता, पालक एवं संहारक है। विश्व में आशा—निराशा, सुख—दुःख, सफलता—असफलता आदि का स्रोत ईश्वर की है। गैलवे (Galloway) के शब्दों में, 'अल्लाह वर्षा एवं अन्य वस्तुओं का दाता

है। वही भाग्य का संचालक एवं अन्याय का बदला लेने वाला है।”⁵

(2) फरिश्ते में विश्वास (Belief in Angels)

जिस प्रकार वेद—पुराण में अनेक देवी—देवताओं का वर्णन है उसी प्रकार कुरान में फरिश्तों (angels) का वर्णन हुआ है। फरिश्तों का स्थान मानव और ईश्वर के मध्य में आता है। ये फरिश्तें दिन—रात ईश्वर का गुण—गान करते रहते हैं। ईश्वरीय आदेश का पालन ही इनका कर्तव्य है।

फरिश्ते सूक्ष्म शरीरवाले हैं। ये न तो खाना खाते हैं और न पानी पीते हैं। इनमें स्त्री—पुरुष का भेद नहीं किया जा सकता है। इसकी संख्या अनेक है। अल्लाह के सिंहासन का भार ढोनेवाले फरिश्तों की संख्या आठ है। नरक की रक्षा के लिए उन्नीस फरिश्ते तैनात हैं। अल्लाह के सन्देश ढोनेवाले फरिश्तों में फरिश्ता ‘जिब्राइल’ (Gibriel) का नाम उल्लेखनीय है। ‘मीकाइल’ (Michael) मृत्यु का फरिश्ता है। ‘इस्ताफील’ प्रलय के वक्त दुन्दुभी बजाता है। मानव के शुभ कर्मों का लेखा—जोखा रखने वाला फरिश्ता ‘करामत’ है और अशुभ कर्मों को लिखने वाला ‘कातिबीन’ है। मनुष्य और फरिश्तों के मध्य ‘जिन्न’ आते हैं। कुछ जिन्न शुभ हैं, तो कुछ अशुभ हैं।

फरिश्तों के अतिरिक्त, कुरान में एक और प्रकार के जीवों का वर्णन मिलता है। इन्हें 'शैतान' कहते हैं। इनका काम मानव को बुरे मार्ग पर अग्रसर करना है। ये सभी बुराइयों की जड़ हैं। ये किसी को सहायता तो नहीं करते, बल्कि सभी को अहित पहुँचाते हैं। ये लोगों में भय उत्पन्न करते हैं। इनसे बचने के लिए इस्लाम धर्म में ईश्वर की प्रार्थना को आवश्यक बतलाया गया है। 'इब्लिस' शैतानों का मुखिया है। ईश्वरीय आदेश का उल्लंघन करने के कारण डब्बिस को स्वर्ग से निष्कासित करने की बात कुरान में मिलती है।

कुरान का कथन है "अल्लाह अपनी मर्जी के मुताबिक जिसे नहीं चाहता है, उसे रास्ते से भटका देता है और जिसे चाहता है, उसे सही रास्ते पर लगा देता है। यह आवश्यक है कि ईश्वर कृपापूर्वक हमारा रूपान्तरण कर दे। (डॉ. राधाकृष्णन, हमारी संस्कृति, पृ.सं. 36)

(3) देवदूतों में विश्वास (Belief in prophets)

अनेक धर्मों में ऐसा विश्वास पाया जाता है कि जब-जब पृथ्वी पर धर्म की हानि और अधर्म की विजय होने लगती है, तो ईश्वर मनुष्य का रूप धारण करके पृथ्वी पर आता है और बुराइयों का नाश करता है। श्रीमद्भगवद्गीता, रामायण और रामचरित मानस में भी इस बात की सम्पुष्टि की गई है। हिन्दू

धर्म में यह विश्वास काफी सबल है। मनुष्य के रूप में ईश्वर अपना सन्देशवाहक भेजता है, जिसे 'देवदूत' (prophet) कहते हैं। कुरान में भी दूवदूतों की सत्ता में विश्वास पाया जाता है। ये देवदूत ईश्वर का सन्देश पृथ्वी-वासियों तक पहुँचाते हैं। ये सत्यता, निष्कपटता, शुद्धता आदि सद्गुणों से युक्त रहते हैं। लोगों का पथ-प्रदर्शन करना इनका प्रमुख काम है। इन देवदूतों की संख्या कुरान में अट्ठाईस बतलायी गयी है। प्रधान देवदूतों में आदम, नूह, इब्राहिम, युसूफ, मूसा, ईसा और मुहम्मद के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मुहम्मद साहब को अन्तिम देवदूत समझा जाता है।

(4) कुरान में विश्वास (Belief in Quran)

कुरान मुसलमानों का पवित्र धार्मिक ग्रन्थ है। यह ईसाइयों के बाइबिल और हिन्दुओं के वेद-पुराण की भाँति अत्यन्त पवित्र एवं पूजनीय ग्रन्थ है। जिस प्रकार वेद को ईश्वर रचित माना जाता है। ठीक उसी प्रकार कुरान को भी मानव रचित न मानकर ईश्वर की वाणी कहा जाता है। ईश्वर ने देवदूत 'जिब्राइल' के द्वारा कुरान की बातें मुहम्मद साहब के पास पहुँचायी थीं। इस पुस्तक की भाषा अरबी है। इसमें आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नर्क, जन्नत और जहनुम आदि की व्याख्या की गयी है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल, मधुर एवं आकर्षक है। पुस्तक के विभिन्न वाक्यों

का संकलन 23 वर्षों में पूरा हो गया था। जिस महीनों में मुहम्मद साहब को कुराण दिया गया था उस महीना का नाम रमजान का महीना यानी रमजान महीने में कुरान मुहम्मद साहब के पास भेजा गया था।

इसीलिए रमजान का महीना मुसलमानों के लिए अत्यन्त पवित्र माना जाता है। कुरान मूर्ति पूजा का घोर विरोध करता है। मूर्तिपूजकों को कुरान में 'काफिर' या नास्तिक के नाम से पुकारा जाता है। जिस प्रकार हिन्दू किसी महत्त्वपूर्ण धार्मिक निर्णय लेने में गीता एवं रामायण का सहारा लेते हैं, उसी प्रकार मुसलमान किसी कर्म पर निर्णय देने के समय कुरान का विचार अवश्य देखते हैं। आज भी मुस्लिम लॉ में इसका ख्याल रखा जाता है। न्यायालय में भी इसका ख्याल रखते हुए निर्णय दिया जाता है।

(5) निर्णय—दिवस, स्वर्ग और नर्क में विश्वास (Belief in Judgement day, Heaven and Hell)

इस्लाम धर्म पुनर्जन्म (rebirth) में विश्वास नहीं करता। इसके अनुसार, जीव बार—बार शरीर धारण नहीं करता है। यह मत ईसाई और यहूदी धर्मों से मिलता—जुलता है। यहाँ इस्लाम धर्म और हिन्दू धर्म में स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ता है। हिन्दू धर्म पुनर्जन्म में विश्वास रखता है। इस्लाम धर्म के अनुसार, मृत्यु के बाद मनुष्य का शरीर कब्र में रखा जाता है। कयामत के दिन

प्रत्येक जीव अपने पुराने शरीर के साथ कब्र से उठता है और अपने किये गये कर्मों का निर्णय सुनता है। इस रोज उसकी कोई भी मदद नहीं कर पाता। उसे अपने शुभ कर्मों के लिए पुरस्कार और अशुभ कर्मों के लिए दण्ड भोगना पड़ता है। कुरान में कहा गया है—“उस दिन न मित्र किसी मित्र का सहायक होगा और न कोई सहायता पायेगा। जो कुछ स्वयं अर्जित किया उसका फल अवश्य मिलेगा, वह अन्याय से पीड़ित न होगा”। यही कयामत का दिन ‘निर्णय—दिवस’ (Judgement-day) कहलाता है। दयानन्द सरस्वती ने भी अपनी पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश में इस बात की पुष्टि की है।

स्वर्ग और नर्क (Heaven and Hell)

अन्य धर्मों की भाँति कुरान में भी स्वर्ग और नर्क का विशद् वर्णन पाया जाता है। जब जीव के कर्मों का मूल्यांकन हो जाता है, तो कुछ जीवों को स्वर्ग और कुछ को नरक में जाना पड़ता है। शुभ कर्म करने वाले जीव स्वर्ग में जाते हैं और बुरे कर्म करने वाले दुराचारी नर्क में जाते हैं। स्वर्ग आनन्दमय स्थान है, किन्तु नर्क दुःखपूर्ण स्थान है। स्वर्ग में मधुर शराब, स्वच्छ जल एवं सुख की नदियाँ बहती रहती हैं। यहाँ सुन्दर वन—उपवन भरे पड़े हैं। यहाँ की हवा में मस्तिष्क को मस्त बना देने वाली सुगन्ध पायी जाती है। यहाँ की शराब में नशा नहीं

रहता, न इसके पीने से सिर चकराता है। यहाँ युवक और युवतियाँ ऐशो आराम का जीवन व्यतीत करते हैं। स्वर्ग में ईश्वरीय संगीत की मधुर ध्वनि गूँजती रहती है। सत्यार्थ प्रकाश नामक पुस्तक में भी इस बात की चर्चा की गई है।

नर्क ठीक स्वर्ग के विपरीत है। यहाँ जीव अनेक प्रकार के कष्ट झेलते हैं। यहाँ रक्त-पीब की नदियाँ बहती रहती हैं। यहाँ आग की ज्वाला जीवों को झूलसाती रहती हैं। बॉब जख्म से कहारते हैं। यहाँ अपराधी को घाव के धोये हुए पानी एवं पीब के सिवा खाने-पीने की कोई अन्य वस्तु नहीं मिलती। इस प्रकार, नर्क में असह्य दुःख पाया जाता है।

इस्लाम धर्म में स्वर्ग को दक्षिण दिशा में तथा नर्क को उत्तर दिशा में स्थित बतलाया गया है। इसीलिए स्वर्गवासी 'दक्षिणी' एवं नर्कवासी 'उत्तरी' कहे जाते हैं। स्वर्ग और नर्क के बीच एक दीवार पायी जाती है, जिसे 'एकाफ' कहते हैं। यहाँ पर उन जीवों को रखा जाता है जो न तो स्वर्ग के योग्य हैं और न नर्क में रहने के लायक हैं।

(6) भाग्यवाद अथवा पूर्व नियतिवाद में विश्वास (Belief in Fatalism or Pre-destination)

इस्लाम धर्म भाग्यवाद या पूर्व नियतिवाद में विश्वास रखता है। इसके अनुसार, मनुष्य कार्य करने में पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है।

शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक कर्मों के सम्पादन में ईश्वर की इच्छा काम करती रहती है। इसलिए व्यक्ति को उनके कर्मों के सम्पादन में ईश्वर की इच्छा काम करती रहती है। इसीलिए व्यक्ति को उनके कर्मों के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। भाग्यवाद या पूर्व नियतिवाद नैतिकता (morality) के लिए कोई जगह नहीं रखता। इससे व्यक्ति में निराशावाद (pessimism) का उदय होता है। यही कारण है कि आगे चलकर इस्लाम धर्म में भाग्यवाद को संशोधित करने की चेष्टा की गयी है।

इस्लाम के निम्नलिखित पाँच स्तंभ माने जाते हैं—1. श्रद्धा, (faith) 2. नमाज (prayer), 3. खैरात (alms giving), 4. उपवास (fasting) और 5. हज करना (pilgrimage to Macca)। ये इस्लाम के धार्मिक कर्तव्य हैं। इस धर्म का व्यावहारिक पक्ष सैद्धान्तिक पक्ष से कमजोर नहीं है। अब इन पर अलग-अलग विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है—

1. श्रद्धा अथवा विश्वास (Faith)

इस्लाम धर्म प्रत्येक मुसलमान को एक ईश्वर और उसके देवदूत मुहम्मद में आस्था रखने का आदेश देता है। इसकी धार्मिक श्रद्धा अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट है। इसकी अभिव्यक्ति केवल एक वाक्य में ही हो जाती है—“ला इलाह इल्लल्लाह

मुहम्मद" यानी मुहम्मद उसके देवदूत हैं। इस प्रकार, अल्लाह और इनके देवदूत के रूप में मुहम्मद का पवित्र धार्मिक कर्तव्य है।

2. नमाज (Prayer)

जिस प्रकार अन्य धर्मों में 'प्रार्थना' धर्म का अनिवार्य बाह्य अंग समझा जाता है, उसी प्रकार इस्लाम में 'नमाज' (prayer) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक मुसलमान को प्रतिदिन कम-से-कम पाँच बार नमाज अवश्य पढ़नी चाहिए—1. सूर्य उदय के पूर्व, 2. दोपहर को, 3. संध्या को, 4. शाम को और 5. रात्रि को। नमाज पढ़ने के पूर्व व्यक्ति को अपने शरीर एवं मन को शुभ एवं स्वच्छ बना लेना चाहिए। शरीर की पवित्रता दो प्रकार की होती है। 'वजू' (wazu)में शरीर के हाथ, पैर, नख, बाल आदि की साधारण ढंग से सफाई की जाती है। साधारण ढंग से सम्पूर्ण पवित्रता का उपदेश नहीं दिया जाता। कुराण में साधारण और असाधारण दोनों तरह की बातें देखने को मिलती है।

इसमें चार प्रकार की पवित्रता का वर्णन हुआ है—(क) मिट्टी या पानी से सम्पूर्ण शरीर की सफाई, (ख) शरीर के सभी अंगों को दुष्टता एवं अनुचित कर्मों से मुक्त करना, (ग) हृदय से सभी कुप्रवृत्तियों एवं बुरे विचारों को निकाल फेंकना और (घ) अन्य सभी वस्तुओं से प्रेम हटाकर एक मात्र अल्लाह में मन लगाना।

मोहम्मद इकबाल एवं जायसी कवि ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

इस्लाम में नमाज के दो 4प्रकार बतलाये गये हैं—‘फर्द’ और ‘सुन्नत’। ‘फर्द’ वैयक्तिक नमाज (individual prayer) को कहते हैं। जब व्यक्ति अकेले ही नमाज पढ़ता है तो इसे ‘फर्द’ कहते हैं। जब व्यक्ति समूह में नमाज पढ़ता है तो इसे ‘सुन्नत’ या सामूहिक नमाज (collective prayer) कहा जाता है। इस्लाम में सामूहिक नमाज का अत्यधिक महत्त्व है। किसी मस्जिद में लोग एकत्र होकर नमाज पढ़ते हैं। शुक्रवार के रोज मुसलमान काफी बड़ी संख्या में मस्जिदों में एकत्र होकर सामूहिक नमाज में शरीक होते हैं। इस वक्त अमीर—गरीब, ऊँच—नीच आदि का भेद—भाव भूलकर सभी मुसलमान एक पंक्ति में खड़े होकर नमाज पढ़ते हैं। इससे लोगों में सामूहिक संगठन की भावना बलवती होती है। नमाज पढ़ने के समय शारीरिक स्थिति में परिवर्तन होता रहता है। लोग कभी खड़े होकर, कभी झुककर तो कभी लेटकर नमाज पढ़ते हैं। नमाज सदैव पश्चिम में मक्का की ओर मुँह करके पढ़ी जाती है। नमाज के द्वारा व्यक्ति अल्लाह की दुआ प्राप्त करना चाहता है। अकबर और जहाँगीर ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

3. खैरात (Almsgiving)

नमाज के बाद खैरात का स्थान आता है। आवश्यकता के समय किसी व्यक्ति की भौतिक साधनों से मदद पहुँचाना 'खैरात' कहलाता है। विश्व में आर्थिक विषमता फैली हुई है। सभी की आर्थिक हालत एक समान नहीं है। किसी के पास अपार धन राशि है, तो किसी के पास खाने के लिए मुट्ठी-भर अन्न भी नहीं है। ऐसी स्थिति में धनी वर्ग का पवित्र कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने धन का एक निश्चित अंश गरीबों में वितरण करे। यही खैरात है। खैरात आर्थिक विषमता दूर करने का एक शान्तिपूर्ण तरीका है। भारत में विनोबाजी भी इसी प्रकार पूँजीवादियों से गरीबों के लिए धन माँगते चलते थे।

खैरात की प्रथा का आरंभ इस्लाम धर्म में कब हुआ? इस्लाम के प्रसार में अनेक नवयुवकों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। उनकी मृत्यु के बाद उनके परिवारजनों के सम्मुख कठिन आर्थिक समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। इस्लाम के प्रचार में कुछ लोगों को अपनी सम्पत्ति गँवानी पड़ी। मुहम्मद साहब ने इन समस्याओं के हल के लिए खैरात-प्रथा को जन्म दिया। उन्होंने प्रत्येक मुसलमान को अपनी आर्थिक आय का एक निश्चित अंश दान देने को कहा।

दान से प्राप्त रकम को गरीबों एवं जरूरतमंदों में वितरण किया गया है। इससे समाज में आर्थिक विषमता में कुछ कमी

आयी और गरीबों को राहत मिली। तभी से खैरात की प्रथा इस्लाम धर्म में चली आ रही है। प्रारंभ में मुहम्मद साहब ने इसे 'कर' के रूप में स्थापित किया था। आगे चलकर इस 'कर' ने धर्माचरण का रूप धारण कर लिया। आज तो इस्लाम धर्म का यह एक महत्वपूर्ण आधार बन गया है। कुरान में कहा गया है—“जब तक अपनी प्रिय वस्तु में से खर्च न करोगे, तब तक पुण्य नहीं पा सकते।” कुरान का यह भी कहना है—“उपर वाला हाथ नीचे वाले हाथ की अपेक्षा अधिक अच्छा है, क्योंकि ऊपरवाला हाथ खैरात देता है जबकि नीचे वाला हाथ खैरात लेता है”।⁶ मोहम्मद इकबाल ने भी इस बात की पुष्टि की है। रसखान एवं जायसी ने इनसे पूर्व ही इस बात की पुष्टि की थी।

4. रोजा या उपवास (Fasting)

रोजा का अर्थ उपवास—व्रत होता है। रोजा रखने का मुख्य अभिप्राय व्यक्ति में दुर्दिन के समय उपवास करने की क्षमता लाना है। जीवन में कभी—कभी ऐसे अवसर आते हैं जब व्यक्ति को खाने—पीने का मौका नहीं मिलता। रोजा रखने वाला व्यक्ति को ऐसे अवसरों पर कोई कठिनाई नहीं होती। उन्हें उपवास करने का अभ्यास हो जाता है। रसेल एवं फलकेन बर्ग ने भी इस बात की पुष्टि की है।

रमजान का महीना मुसलमानों के लिए अत्यन्त पवित्र माना गया है। इसी महीने में कुरान ईश्वर की ओर से मुहम्मद साहब के पास उतारा गया था। इसीलिए मुसलमान इस महीने में रोजा या उपवास रखते हैं। सूर्य के उगने से डूबने तक बिना अन्न-जल के ही लोग रहते हैं। इस अवधि में धूम्रपान (smoking) का भी निषेध है। इसमें लड़ाई-झगड़ा या अनैतिक कार्यों के करने की सख्त मनाही है।

साधारणतः 'रोजा' का अर्थ अन्न-जल नहीं ग्रहण करना है। किन्तु इस्लाम में 'रोजा' को व्यापक अर्थ में लिया गया है। यहाँ मुख्यतः तीन प्रकार के उपवासों की व्याख्या की गयी है। (1) अन्न-जल स परहेज रखना, रोजा का साधारण अर्थ है। (2) आँख, कान, नाम, जीभ आदि शारीरिक अंगों को पाप से बचाना और (3) आत्मा को सांसारिक आकर्षणों की ओर नहीं जाने देना। इस प्रकार रोजा का यहाँ व्यापक अर्थ होता है। रोजा रखने वाला व्यक्ति इस्लाम धर्म में उच्च कोटि का माना जाता है। मुहम्मद साहब का कहना है कि "अल्लाह को कस्तूरी की अपेक्षा उपवास किये हुए व्यक्ति के मुँह की सुगन्ध अधिक प्रिय है।"⁷ कुराण में उपर्युक्त बातों की सम्पुष्टि की गई है।

रमजान के महीने में उपवास रखने से कई लाभ होते हैं—सर्वप्रथम व्यक्ति में उपवास करने की क्षमता बढ़ती है, जिससे

वह आवश्यकता पड़ने पर आसानी से अन्न—जल के बिना भी कुछ समय तक रह सकता है। इससे दूसरा लाभ यह है कि इससे भूखे—प्यासों के प्रति करुणा, दया एवं सहानुभूति के भाव उत्पन्न होते हैं। रोजा रखने पर व्यक्ति आसानी से दूसरों की भूख—प्यास का कष्ट जान सकता है। भूख का कष्ट महसूस करने पर व्यक्ति के हृदय में स्वाभाविक रूप से भूखे—प्यासों के प्रति करुणा एवं सहानुभूति के भाव उठते हैं।

5. हज करना (Pilgrimage to Mecca)

जिस प्रकार हिन्दू धर्म में तीर्थ स्थानों की यात्रा धर्म का आवश्यक अंग कहा जाता है, उसी प्रकार इस्लाम धर्म में मक्का (मुसलमानों का पवित्र तीर्थस्थल जहाँ प्रसिद्ध मस्जिद 'काबा' स्थित है) की यात्रा आवश्यक बतलायी जाती है। प्रत्येक मुसलमान को यथा संभव एक बार हज के लिए मक्का जाना वांछनीय है। हज करने के पहले इन शर्तों का पालन आवश्यक है— (क) अपने पापों का प्रायश्चित्त करना, कर्ज चुकाना और खैरात करना, (ख) पवित्र एवं दोनों व्यक्ति को साथ रखना, (ग) यात्रा के पहले कुरान (ड.) घर से बाहर होते ही किसी जानवर पर सवार होकर यह कहना (च) यात्रा को अधिकांश रात में पूरा करना, (छ.) सवारी के पीछे नहीं पड़ना और (ज) ऊपर चढ़ने के

समय यह कहना— और 'God is Great' और उतरने के समय यह कहना 'Praise be to God'.

मक्का पहुँचने पर सभी यात्री एकत्र होते हैं और कई रीतियों का पालन करते हैं—स्नान द्वारा शरीर को स्वच्छ बनाना, पुराना वस्त्र उतार कर हज के निमित्त नया वस्त्र धारण करना, मुँह को मक्का की ओर फेरकर हज करना इत्यादि। जो लोग मक्का हज करने नहीं पहुँच पाते उनके लिए इस्लाम में कुर्बानी का आदेश दिया गया है। हज करने से मुसलमानों में प्रेम-भाव बढ़ता है। यात्रियों के धर्म का ज्ञान भी बढ़ता है। इसी भावना से आज भी अधिकांश मुसलमान मक्का जाते हैं। यह मुहम्मद साहब का जन्म स्थल है। इसलिये तमाम मुसलमानों के लिये यह तीर्थस्थल बन गया है।

(1) शिया और सुन्नी—सम्प्रदाय

मुहम्मद साहब मृत्यु के पूर्व अपना कोई उत्तराधिकारी निर्धारित नहीं कर सके थे। इसलिए उनकी मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी बनने के लिए लोगों में होड़ लग गयी। उनके अनुयायियों ने अबूबकर को उत्तराधिकारी बनाया। अबूबकर के बाद ओमर को खलीफा के पद पर नियुक्त किया गया। खलीफा के समय उत्तराधिकारी का प्रश्न अत्यधिक जटिल हो गया। उनके विरुद्ध अनेक मुसलमानों ने आन्दोलन छेड़ दिया और मुहम्मद

साहब के नाती इमाम हुसैन को खलीफा के रूप में ग्रहण किया बगदाद के निकट 'कर्बला' नामक स्थान में खलीफा के आदेशानुसार इमाम हुसैन की हत्या कर दी गयी। शिया मुसलमान उसी समय से मुहर्रम-पर्व मनाते आ रहे हैं। इसमें कुछ सुन्नी मुसलमान भी शरीक होते हैं। शहीद इमाम हुसैन के अनुयायी शिया, मुसलमान हैं। 'शिया' का अर्थ अल्ली-सम्प्रदाय का अनुगामी होता है। खलीफा के अनुयायी 'सुन्नी' कहे जाते हैं।

शिया और सुन्नी दोनों सम्प्रदाय के अनुयायी कुरान को ही प्रेरणा-स्रोत मानते हैं। दोनों ही मुहम्मद साहब के प्रति आदर एवं श्रद्धा के भाव रखते हैं। सुन्नी - सम्प्रदाय वालों की संख्या शिया-सम्प्रदाय के सदस्यों से अधिक है।

दोनों सम्प्रदायों में कोई मौलिक विरोध नहीं है। फिर भी दोनों में खलीफा, भाग्यवाद, आत्मा की स्वतन्त्रता आदि विषयों पर घोर वाद-विवाद होने लगा। दोनों में कटुता के भाव भी आने लगे। किन्तु अलगज्जाली ने इस विरोध को अनावश्यक एवं निरर्थक बतलाया। इनके अनुसार, धर्म वाद-विवाद एवं तर्क-वितर्क की वस्तु न होकर आन्तरिक अनुभूति एवं विश्वास का विषय है। अलगज्जाली के उपदेशों का दोनों ही सम्प्रदायवालों पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

(2) आगारवानी

इस मत के मानने वाले आगारवाँ को ईश्वर का अवतार घोषित करते हैं। उन्हें मनुष्य को नरम पठाने का अधिकार है। इस मत का दूसरा नाम इस्माईल्स भी है।

(3) इमामीया (Imamiya)

यह सम्प्रदाय शियामत की ही एक शाखा के रूप में है। इसके समर्थक बारह इमाम के अस्तित्व को मानते हैं। बारहवाँ इमाम अपनी जवानी में ही कहीं बाहर चला गया था। इस मत के मानने वालों का विश्वास है कि यह बारहवाँ इमाम कहीं निवास कर रहा है और अवसर आने पर विश्व का नियन्त्रण अपने हाथ में ले लेगा।

(4) सूफीमत

जब इस्लाम धर्म में अध्यात्मवाद प्रस्फुटित हुआ तो सूफीमत का प्रादुर्भाव हुआ। यह मत इस्लाम के आध्यात्मिक पक्ष पर अत्यधिक जोर देता है यह धर्म के बाह्य रूप (जिसमें कर्म-काण्ड को प्रमुख माना जाता है) का घोर विरोध करता है।

सूफीमत की उत्पत्ति कैसे हुई? इस प्रश्न के विषय में चार प्रकार के उत्तर मिलते हैं—(क) कुरान में स्थित मुहम्मद साहब के रहस्यात्मक विचारों से सूफीमत का उदय हुआ है। इसीलिए सूफीमतावलम्बी कुरान को पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वीकार

करते हैं। (ख) इस्लाम पर हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा है। दोनों के प्रभाव का प्रतिनिधित्व सूफीमत करता है। (ग) सूफीमत 'नियो-प्लेटोनिक' (Neo-Platonic) प्रभाव का भी प्रतिनिधित्व करता है और (घ) सूफीमत का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है। इसके अनुसार, इस मत का उदय स्वाभाविक रूप से यों ही हुआ है।

सूफीमत सर्वेश्वरवाद (pantheism) का समर्थक है। इसके अनुसार, आत्मा का परमात्मा में विलीन होना ही परम लक्ष्य है। जिस प्रकार पानी की बूँद समुद्र में विलीन हो जाती है, ठीक उसी प्रकार आत्मा ईश्वर में अपना अस्तित्व समाप्त कर देती है। ईश्वर के चरणों में अपना सर्वस्व न्योछावर करके उसमें विलीन हो जाना ही इस मत का आदर्श है। ईश्वर ही एक मात्र वास्तविक सत्ता है। सूफीमत का मूल मन्त्र 'अतलहक' (मैं ही ईश्वर हूँ) वेदान्त के 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ही ब्रह्म हूँ) का प्रतिनिधित्व करता है। शुद्ध हृदय एवं प्रेम के आधार पर ही ईश्वर की प्राप्ति की जा सकती है। रसखान ने कृष्ण भक्ति में जो कुछ कहा है या लिखा है, वह इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

सूफीमत संन्यासवाद पर जोर देता है। इसके अनुसार, ईश्वर की प्राप्ति कठोर तपस्या, उपवास, प्रार्थना आदि द्वारा ही सम्भव है। इस मत में रहस्यात्मक पक्ष भी अत्यन्त सबल हैं

रहस्यवादी होने के कारण सूफीमत प्रकृतिवाद (naturalism)का विरोध करता है। रसखान की उक्तियों से भी इस बात की सम्पुष्टि हो जाती है। किन्तु इन्होंने भक्त और भगवान के अन्तर को स्वीकार किया है।

रहस्यवादी नैतिक दृष्टिकोण से भौतिक जगत् को अशुभ, अपूर्ण एवं बुरा मानते हैं। सूफीमत में भी इस विश्व को अशुभ एवं बुराइयों का साम्राज्य बतलाया है। इसीलिए इस मत में भौतिक संसार की उपेक्षा दीख पड़ती है। दोनों के द्वारा दुःखों की प्रधानता मानने के कारण दोनों निराशावादी दृष्टिकोण अपनाते नजर आते हैं। बौद्धों के संन्यासवाद को सूफियों ने भी अपना लिया है।

बौद्ध धर्म और सूफी मत में समानता के बावजूद कुछ अन्तर भी हैं। बौद्ध-धर्म दुःख एवं बुराइयों को दूर करने के लिए व्यक्ति के निजी प्रयास को आवश्यक बतलाता है। 'आत्म दीपो भव' बौद्धों का मूल मन्त्र है। इसके विपरीत, सूफी-मत विश्व से दुःखों एवं बुराइयों को दूर करने के लिए ईश्वर दया पर निर्भर होने का आदेश देता है।

सूफी मत के अनुयायी भारत और फारस (ईरान) में पाये जाते हैं। जलालुद्दीन रूनी इस सम्प्रदाय के महान् सन्तों में प्रमुख स्थान रखते हैं।

ईस्लाम धर्म की विशेषताएँ

ईस्लाम धर्म की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, जिनके चलते इसे अनूठा धर्म कहा जाता है। इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

- (1) ईस्लाम एकेश्वरवाद (monotheism) में विश्वास करता है। यहाँ मूर्ति पूजा एवं अनेकेश्वरवाद (polytheism) का घोर विरोध किया जाता है। कुराण के अध्ययन से इस बात की पुष्टि हो जाती है। दयानन्द सरस्वती ने भी सत्यार्थ प्रकाश नामक ग्रन्थ में इस बात की पुष्टि की है।
- (2) इस धर्म में पुरुष एवं स्त्री दोनों को सम्पत्ति पाने का समान अधिकार दिया गया है। यह अन्य धर्मों में नहीं पाया जाता। इस सिद्धान्त के अनुसार "माता-पिता या अन्य सम्बन्धी जो कुछ (थोड़ा-बहुत) छोड़कर मरते हैं, उसमें स्त्री पुरुष दोनों का हिस्सा है। मुस्लिम लॉ में इस बात की सम्पुष्टि वर्तमान समय में भी की जा रही है।
- (3) ईस्लाम धर्म में बहु विवाह को धर्मसंगत माना गया है। बहु विवाह को मानने पर भी यहाँ केवल चार स्त्रियों के रखने का आदेश दिया गया है। यदि अनेक विवाह करने से व्यक्ति यह महसूस करे कि सभी स्त्रियों के प्रति न्याय नहीं

बरत रहा है तो उसे एक ही विवाह से सन्तुष्ट रहना चाहिए।

- (4) इसमें अपराधियों के लिए कठोर दण्ड देने का विधान पाया जाता है। यदि कोई स्त्री या पुरुष दोषी हो तो उसे कड़ी सजा मिलनी चाहिए। यहाँ किसी की हत्या करने वाले के लिए प्राण दण्ड, चोरी करने वाले के लिए हाथ काट देना और व्यभिचार करने वाले के लिए सौ बेंत लगाने का विधान किया गया है। अपराध को समाप्त करने के उद्देश्य से इस प्रकार की कठोर दण्ड-व्यवस्था रखी गयी है।
- (5) इस्लाम धर्म में सामूहिक नमाज (collective prayer) को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। इससे मुसलमानों में अपनापन एवं भ्रातृत्व-भाव का विकास होता है। हिन्दुओं के मन्दिर और ईसाइयों के गिरजाघर इस मामले में मुसलमानों की मस्जिदों से मुकाबला नहीं कर सकते।
- (6) इस्लाम का लक्ष्य मानव मात्र की सेवा करना है। अपने पड़ोसियों के प्रति प्रेम एवं सहानुभूति के भाव रखना प्रत्येक मुसलमान का पवित्र कर्तव्य है। मुसलमानों में गरीब-अमीर, शिक्षित-अशिक्षित का भेद-भाव निषिद्ध माना गया है। दान एवं खैरात पर विशेष जोर दिया गया है। यहाँ मानवता की

सेवा ही ईश्वर की सेवा है।⁸ गालिब एवं रहीम की रचनाओं से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है।

उपर्युक्त विशेषताओं के बावजूद इस धर्म में कई असंगतियाँ एवं दोष पाये जाते हैं, जिनके चलते यह अपनी लोकप्रियता कायम नहीं रख सका। इसमें निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं—

- (1) यद्यपि इस्लाम धर्म में हिंसा की जोरदार शब्दों में निन्दा की गयी है, फिर भी इसके समर्थकों ने तलवार के बल पर इस धर्म का प्रसार किया। लूट-मार, खून-खराबा, छल-प्रपंच आदि साधनों द्वारा अन्य धर्मावलम्बियों को मुसलमान बनाने का प्रयास किया गया है। इससे साधारण जनता के मन में इस्लाम के प्रति आदर एवं श्रद्धा का भाव समाप्त होने लगा। या, यों कहें कि इसके प्रति लोगों में घृणा उत्पन्न हो गयी। कबीरदास ने भी इनके पाखण्ड का पर्दाफास किया है।
- (2) इस्लाम में कई असंगतियाँ विद्यमान हैं। इनके विषय में वाद-विवाद एवं परस्पर विरोधों के कारण इस्लाम धर्म की नींव कमजोर होती गयी।
- (3) इस्लाम धर्म में बौद्धिक जिज्ञासा को जबरदस्ती दबा दिया जाता है। यहाँ कुरान के आदेशों को आँख मूँदकर मानने

की बात कही गयी है। कुरान के विरुद्ध जाने वाले को नास्तिक या काफिर कहा जाता है। इस धर्म में स्वतन्त्र बौद्धिक चिन्तन के लिए दरवाजा बन्द हो जाता है। दयानन्द सरस्वती ने भी इस बात की पुष्टि की है।

- (4) इस्लाम धर्म में ईश्वर-सम्बन्धी विचारों में असंगतियाँ पायी जाती है। यहाँ एक ओर ईश्वर को सर्वशक्तिशाली एवं न्यायी कहा जाता है, तो दूसरी ओर उसे दयावान एवं क्षमाशील बतलाया जाता है। न्यायी और क्षमाशील परस्पर विरोधी जैसे मालूम पड़ते हैं। जो न्यायी होगा वह क्षमा नहीं कर सकता। इसलिए ईश्वर को एक ही साथ न्यायी एवं क्षमावान् नहीं कहा जा सकता। रसेल ने भी इस बात की चर्चा की है।

इस धर्म में ईश्वर-सम्बन्धी विचार असन्तोषप्रद है। यहाँ अल्लाह ही एक मात्र वास्तविक सत्ता है। यह सर्वशक्तिमान, विश्व का रचयिता, पोषण कर्ता एवं संहर्ता है। किन्तु उस अल्लाह में अपनी रचना (मनुष्य आदि जीव) के प्रति प्रेम-भाव का अभाव है। प्रत्येक व्यक्ति अल्लाह तक नहीं पहुँच सकता है। इने-गिने लोग (जिन पर अल्लाह की कृपा होती है) ही उसके दर्शन कर सकते हैं। कबीरदास ने भी खुदा को बहरा कहा है।

इस प्रकार, इस्लाम और ईसाई धर्मों में अन्तर है। ईसाई धर्म के अनुसार, ईश्वर और मानव के बीच पिता-पुत्र का सम्बन्ध है। मानव जब चाहे अपने पित तुल्य ईश्वर के निकट जा सकता है। इसके विपरीत, इस्लाम धर्म ईश्वर और मानव के बीच स्वामी और दास का सम्बन्ध मानता है। मानव अपनी इच्छा के अनुसार ईश्वर का दर्शन नहीं कर सकता। इस प्रकार, इस्लाम का ईश्वर मानव पहुँच के परे होने के कारण धार्मिक भावना को तृप्त नहीं कर पाता। संभवतः इसीलिये यूबरवेग ने कुछ रहस्वादी विचारकों के द्वारा प्रस्तुत अवधारणा को भद्दी एवं असभ्य बतलाया है। रसेल ने ठीक ही लिखा है— “Urberweg points out that, according to the mystics every text of the Koran had 7 or 70 or 700 layers of interpretation the literal meaning being only for the ignorant vulgar.”

इस्लाम के ईश्वर और ईसाई के ईश्वर में एक अन्तर और है। ईसाई धर्म में ईश्वर में सहनशीलता का गुण प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। मानव अपनी गलतियों अथवा त्रुटियों को ईश्वर के सम्मुख स्वीकार करके क्षमा का पात्र बन जाता है। ईश्वर उसके सभी दोषों को माफ कर देता है। इसके विपरीत, इस्लाम का ईश्वर मानव को गलतियों के लिए कठिन दण्ड देता है। इस प्रकार, इस्लाम के

अल्लाह में क्षमाशीलता एवं सहिष्णुता के गुणों का अभाव पाया जाता है। इसलिये इसे कठोर धर्म कहा जाता है।

- (5) इस्लाम धर्म नियतिवाद (determinism) का समर्थन करके निराशावाद को प्रश्रय देता है। यदि सब कुछ ईश्वर की इच्छा से ही होता है तो फिर विश्व में अशुभ भी आवश्यक है। मानव संकल्प-स्वातन्त्र्य के अभाव में अपना भाग्य-विधाता नहीं कहा जा सकता। इससे निराशावाद (pessimism) का उदय होता है, जो धर्म के विकास में बाधक है।
- (6) इस्लाम धर्म में स्त्रियों के प्रति न्याय नहीं बरता गया है। पाकिस्तान की हकीकत नामक पुस्तक में भी इस बात की सम्पुष्टि की गई है। एक ओर इस्लाम धर्म स्त्रियों को मर्दों के समान ही सम्पत्ति में समान अधिकार देने की बात करता है तो दूसरी ओर यह स्त्रियों को हेय स्थान देता है। मुहम्मद साहब ने स्त्रियों को परदे के भीतर इस प्रकार कैद रहने की घोषणा की जिससे इनके स्वास्थ्य एवं विकास पर गहरा असर पड़ा। बहु विवाह ने भी स्त्रियों के आत्म-गौरव पर गहरा आघात पहुँचाया है। तलाक (divorce) में भी स्त्रियों को मर्दों की अपेक्षा अधिक कठिनाईयों का सामना

करना पड़ता है। सीमेन द बाउवार ने द सकैण्ड सैक्स नामक पुस्तक में इस बात की पुष्टि की है।

- (7) मुहम्मद साहब को ईश्वर का अन्तिम दूत मानना भी इस्लाम धर्म की प्रगति पर रोक लगाना है। सत्यार्थ प्रकाश नामक पुस्तक में दयानन्द सरस्वती ने भी अपने ढंग से इस बात का समर्थन किया है।

उपर्युक्त दोषों के कारण इस्लाम धर्म विकसित धर्म के रूप में उभर नहीं सका। प्रो. गैलवे ने ठीक ही कहा है—“इस्लाम धर्म भले ही असभ्य लोगों को मान्य हो, परन्तु विकसित लोगों के बीच यह अपना स्थान नहीं बना सकता।”⁹ उन्होंने इस धर्म की मुख्य त्रुटियों में ईश्वर का मानवीकरण, चमत्कार, ईश्वर—सम्बन्धी संकुचित विचार एवं असहिष्णुता की उल्लेखनीय चर्चा की है।¹⁰ दयानन्द सरस्वती ने अपनी पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश में भी इस बात की पुष्टि की है। इस्लाम धर्म में अन्य धर्मों की अपेक्षा कट्टरता, अन्धविश्वास एवं असहिष्णुता के भावों की प्रधानता अधिक है। इसीलिए इसे सन्तोषप्रद एवं लोकप्रिय धर्म नहीं कहा जा सकता है। इनकी जिहाद और क्रुसेड सम्बन्धी अवधारणा भी दोषपूर्ण है। विश्व में आतंक का वातावरण तैयार करने में इस भावना की अहम भूमिका है। यों मोहम्मद इकबाल ने संघर्ष की

जगह प्रेम को अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया है। इनसे पूर्व सूफी मत के समर्थकों ने इस बात की पुष्टि की है।

रसेल ने भी हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसॉफी में लिखा है—
The view of the mystics, that the populace should take koran literally but wise people need not do so, was hardly likely to win wide popular acceptance.¹¹ अतः इनके धर्म को असभ्य नहीं कहा जा सकता है। इससे भी संसार को नई चेतना मिली है। इसलिये इस धर्म का भी अपना औचिन्य है। इसाईयों के समक्ष इसे बिल्कुल तुच्छ बतलाना न्यायसंगत नहीं है। रसेल ने भी माना है कि यद्यपि इसाईयों की जीत से बहुत मुसलमान इसाई बन गये। किन्तु कुछ ने स्वयं को रक्षा की है। रसेल के ही शब्दों में “The attacks upon the Eastern Empire, Africa, and Spain differed from those of Northern barbarians on the west in two respects: First, the Eastern Empire survived till 1453, nearly a thousand years longer than the western; Second, the main attacks upon the Eastern Empire were made by Mohanmedans, who did not become christians after conquest, but developed an important civilization of their own.”¹² इस सम्बन्ध में आचार्यश्रीरजनीश ने एस धम्म सौ सनातनों नामक पुस्तक के भाग-6 में जो बतलाया है, वह उल्लेखनीय है— हिन्दू, इसाई, इस्लाम की परम्परा में भगवान का अर्थ होता है, जिसने सृष्टि को बतलाया। बुद्ध परम्परा में भगवान का अर्थ होता है, जिसने स्वयं को जाना।” इस दृष्टि से जहाँ

बौद्ध लोक तान्त्रिक ठहरते हैं वहाँ इस्लाम राजतन्त्रात्मक सिद्ध होता है।

Reference

1. "In rapidity of growth neither Christianity nor Buddhism is so remarkable as the religion of Islam." -Galloway : The philosophy of Religion, (p. 139)
2. "There is no God but Allah and Mohamed is his prophet."
Quoted from Glimpses of World Religions, (p. 202)
3. "Verily, truth is goodness and goodness leads to paradise and verily, lying is wickedness and wickedness leads to fire of hell."
-
The Prophet Mohamed
4. "He knows what is in the sea and on the land, not a leaf falls without his knowing it,"
5. "Allah was revered as the giver of rain and good gifts, the controller of destiny, and averger of injustice."
-Galloway : The Philosophy of Religion, (p. 139)
6. "The upper hand is better than the lower hand, the upper hand bestows, the lower begs."
Quoted in 'Glimpses of World Religion', (p.215)

7. "The odour of the mouth of him who fasts is more acceptable to God than the odour of musk."

Quoted in 'Glimpses of World Religions', (p.215)

8. "The good of humanity and service of man is the service of God. It is religion of peace, tranquility and resignation to the will of God. A Muslim is enjoined to do selfless service of suffering humanity."

Quoted in

'Glimpses of World Religion', (p.218)

9. "While Islam may continue to spread among savage and semicivilized peoples, it does not and cannot win its way among the highly developed races."

-Galloway : The
Philosophy of Religion,
(p.141)

10. "The limitations of this religion are its anthropomorphism, its atmosphere of miracle, the poverty of its idea of God, and its intolerance."

-Galloway : The Philosophy of Religion,
(p.140)

11. बी. रसेल, हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसॉफी, पृष्ठ 446

12. वही, पृष्ठ 440

अध्याय-4

पारसी धर्म

ईसा के सैकड़ों वर्ष पूर्व पारसी धर्म के प्रवर्तक जरॉथुस्त्र (Zoroaster) का जन्म हुआ। इन्हें जोरास्टर के नाम से भी पुकारा जाता है। ये देवदूत (prophet) समझे जाते हैं। 'जरॉथुस्त्र' दो शब्दों से बना है—'जरत' (सुर्वण) और 'उश्त्र' (प्रभामण्डित)। अतः जरॉथुस्त्र का शाब्दिक अर्थ है 'सुनहरी प्रभा से मण्डित व्यक्ति'। जरॉथुस्त्र ने ईसा मसीह की भाँति ही कई चमत्कारों की चर्चा की है। ईसा की भाँति जरॉथुस्त्र ने भी जन्म के समय में ही जोरों की हँसी से पापात्माओं (evil spirits) को मार भगाया था।

जोरास्टर ने जिस धर्म की स्थापना की उसे पारसी धर्म (Zoroastrianism) कहते हैं। "The Zoroastrian faith was founded by the great Persian or Irsion sage Zoraster, more correctly speaking Zarathustra". He lived six hundred or a thousand years B.C. A collection of sacred writings of Zoroaster and those of his early disciples how comprise the Zend Avastia the Bible the Zoroastrian faith. (The Path of the Masters, page 37,38). यह धर्म जिन भूभागों में फैला उसे आज फारस या ईरान कहते हैं। इसी कारण इस धर्म को पारसी धर्म की संज्ञा दी जाती है। जोरोस्टर अपने जीवन के आरंभ से ही तत्त्वशास्त्रीय समस्याओं का अध्ययन करने में अभिरुचि दिखलाते थे।

वे सदैव लोगों के शारीरिक एवं नैतिक कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहे। उन्होंने प्राकृतिक घटनाओं से आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण की और इसे अपने देशवासियों तक पहुँचाया। उन्होंने कभी अपने को ईश्वर नहीं बतलाया। वे सदैव अहुरामजदा (Ahuramazda) की खोज में तल्लीन रहते थे। अहुरामजदा पारसी धर्म का ईश्वर है। इन्होंने जोरोस्टर को 'अवेस्ता' (The Avesta) नामक ग्रन्थ सुपुर्द किया और इसके सन्देशों को लोगों तक पहुँचाने का आदेश दिया। यह 'अवेस्ता' पारसी धर्म का मूल ग्रन्थ है। पारसी धर्म को उद्घाटित धर्म (revealed religion) कहते हैं।

पारसियों का धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' पाँच भाँगों में विभक्त है—

- (1) यस्न (The Yasna)—इसमें जोरोस्टर के निजी वचन तथा उपदेशों की चर्चा हैं।
- (2) वेन्दिदाद (The Vendidad)—इसमें शुद्धि के नियम तथा दुश्मनों के संहार के उपाय बतलाये गये हैं।
- (3) विस्पेरद (The Visperad)—इसमें कर्मकाण्ड का विवरण है।
- (4) यस्त (Yashts)—इसमें मन्त्रों एवं देवताओं की स्तुतियों का उल्लेख है।
- (5) खोर्द अवेस्ता (Khorda Avesta)—इसमें उपासना सम्बन्धी स्तुतियों का वर्णन है। इसे लघु अवेस्ता भी कहते हैं।

पारसी धर्म ईश्वरवादी (theistic) धर्म का सुन्दर उदाहरण है। इस धर्म में ईश्वर को अहुरामजदा (Ahuramazda) कहते हैं। यह ईश्वर सर्वशक्तिशाली, सर्वव्यापी एवं सर्वज्ञ है। यह विश्व का

रचयिता, पालन-पोषण कर्ता और संहारक है। यह न्यायी, दयालु एवं करुणामय है। ईश्वर आवश्यकतानुसार एक सच्चा मित्र या पिता कहा जा सकता है। पारसी धर्म के अहुरामजदा और हिन्दू धर्म के ईश्वर में बहुत समानता है।

दोनों के गुण करीब-करीब समान हैं। अहुरामजदा में अनेक गुण पाये जाते हैं—प्रकाश (light), शुभ मन (good mind) उचित (right), धर्मनिष्ठा (piety), प्रभुत्व (dominion) और अमरता (immortality)। ये गुण ईश्वर के वास्तविक गुण हैं, न कि आकस्मिक। अहुरामजदा स्वर्ग में रहता है। जो कुछ भी शुभ (good) है, इसका आधार यही ईश्वर है। इसे नैतिक व्यवस्थापक (moral governor) कहा जाता है। जीवों को उनके कर्मानुसार सुख दुःख प्रदान करने वाला नहीं है।

अहुरामजदा के अतिरिक्त इस धर्म में एक और सत्ता का उल्लेख होता है। यह 'अहरिमन' (Ahriman) के नाम से विख्यात है। जिस प्रकार अहुरामजदा शुभ (evil) का प्रतीक है, उसी प्रकार बुराइयों, दुःख एवं अशुभों का कारण अहरिमन को बतलाया जाता है। अहुरामजदा और अहरिमन में सतत् युद्ध चलता रहता है। पारसी धर्म का यह अटूट विश्वास है कि अन्त में अहरिमन पर अहुरामजदा की विजय होगी। यह हिन्दू धर्म के 'सत्यमेव जयते' (Truth will be ultimately victorious) से मिलता-जुलता है। इस

प्रकार, यह धर्म आशावाद का संचार करता है। शुभ और अशुभ (अहुरामजदा और अहरिमन) के युद्ध में शुभ का हाथ मजबूत करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है।

जोरोस्टर के समय अनेक देवी-देवताओं— वृक्ष, पृथ्वी, हवा, सूर्य आदि की पूजा का प्रचलन जोरों पर था। लोग अपने पूर्वजों की पूजा किया करते थे। जोरोस्टर ने अनेक देवी-देवताओं, वृक्षों, प्राकृतिक वस्तुओं एवं पूर्वजों की पूजा का घोर विरोध किया और केवल एक ही ईश्वर (अहुरामजदा) की पूजा को आवश्यक बतलाया। प्रारम्भ में लोगों का विश्वास अनेकेश्वरवाद (polytheism) में था। किन्तु जोरोस्टर ने उन्हें एकेश्वरवाद (monotheism) का पाठ पढ़ाया। यहाँ हिन्दू धर्म और पारसी धर्म में समानता हैं। हिन्दू भी अनेक देवी-देवताओं की पूजा तो करते हैं, फिर भी वे एक सर्वोच्च सत्ता के रूप में ईश्वर की आराधना करते हैं। जोरोस्टर ने बतलाया कि विभिन्न देव (gods) एक ही अहुरामजदा की अनेक अभिव्यक्तियाँ हैं (Other gods were the manifestations of the divine attributes of Ahuramazda.)। हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थ भी इसी प्रकार धोषणा करते हैं कि सत्य एक ही है, जिसे विद्वान् विभिन्न नामों से पुकारते हैं ('एकम् सत् विप्रा बहुधा वदन्ति')। इस प्रकार, पारसी धर्म को मुख्यतः एकेश्वरवाद कहा जा सकता है।

कुछ लोग अहुरामजदा और अहरिमान दो सत्ताओं को मानने के कारण पारसी-धर्म को द्वैतवाद (dualism) कहते हैं। किन्तु यह विचार मान्य नहीं है। यह सत्य है कि इस धर्म में शुभ और अशुभ दो सत्ताओं को स्वीकार किया गया है; किन्तु इन दोनों को उन्होंने समान रूप से नित्य (eternal) एवं स्थायी (permanent) नहीं माना है। अहुरामजदा नित्य, स्थायी एवं शाश्वत सत्ता है। यह त्रिकाल सत्य है। इसके विपरीत, अहरिमान अस्थायी एवं अनित्य है। एक-न-एक दिन इसका अन्त अवश्यम्भावी है।

भूत काल और वर्तमान काल में इसका अस्तित्व अवश्य है; किन्तु भविष्य में इसका विनाश निश्चित है। शुभ और अशुभ के संग्राम में शुभ की ही अन्तिम विजय होती है। यह विश्वास पारसी और हिन्दू दोनों धर्मों में पाया जाता है। रामायण और महाभारत शुभ की अशुभ पर विजय के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अहुरामजदा के समान राम और पाण्डव की विजय होती है। अहरिमान की भाँति रावण और कौरव अथवा कंस पराजित होते हैं। अतः एक दिन ऐसा आ सकता है जब केवल अहुरामजदा ही रह जाए और अहरिमान का अस्तित्व समाप्त हो जाए। इसलिए केवल अहुरामजदा ही अन्तिम रूप से सत्य है। अतः पारसी धर्म को द्वैतवादी न कहकर एकेश्वरवादी कहना ही युक्तिसंगत प्रतीत

होता है। फिर भी, कुछ विद्वानों ने इस धर्म को द्वैतवाद और एकेश्वरवाद दोनों का उदाहरण माना है।¹

पारसी धर्म (Zoroastrianism) अशुभ की समस्या (problem of evil) का समाधान सरलतापूर्वक कर देता है। विश्व में शुभ और अशुभ की उपस्थिति पायी जाती है। यदि विश्व ईश्वर की रचना है तो फिर इसमें बुराइयाँ एवं अशुभ क्यों पाये जाते हैं? इस प्रश्न का सरल उत्तर पारसी धर्म में दिया गया है। अहुरामजदा और अहरिमन क्रमशः शुभ एवं अशुभ देव के प्रतीक हैं। विश्व में शुभ का कारण अहुरामजदा है और अशुभ तथा बुराइयों का कारण अहरिमन है। इस प्रकार, अहरिमन की सत्ता स्वीकार कर अशुभ की समस्या का समाधान ढूँढने का प्रयास किया गया है। यह समाधान निश्चय ही आकर्षक है। किन्तु इसे सन्तोषप्रद समाधान नहीं कहा जा सकता। अहुरामजदा के साथ-साथ अहरिमन की सत्ता मान लेने से अहुरामजदा के कार्य में बाधा पहुँचती रहती है। ईश्वर के मार्ग में जान-बूझकर बाधक के रूप में किसी अन्य सत्ता को स्वीकार करना पारसी धर्म को शोभा नहीं देता। प्रो. गैलवे या. मसीह ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

पारसी धर्म के अनुसार, अशुभ मिथ्या (unreal) नहीं है। यह शुभ की भाँति ही वास्तविक एवं महत्त्वपूर्ण है। शुभ एवं अशुभ

के बीच सतत् संघर्ष होता रहता है। अशुभ के अभाव में शुभ का महत्त्व नहीं आँका जा सकता। जिस प्रकार दुःख के अभाव में सुख का सच्चा आनन्द नहीं लिया जा सकता। इस प्रकार, पारसी धर्म में शुभ के मूल्यांकन के लिए अशुभ को आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण माना गया है।

पारसी धर्म संकल्प-स्वातन्त्र्य (freedom of will) का समर्थन करता है। शुभ और अशुभ के बीच चल रहे अनवरत संग्राम में व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी पक्ष का समर्थन कर सकता है। शुभ या अशुभ के चुनाव में वह पूर्णतया स्वतन्त्र है। इसलिए उसके कार्यों की पूर्ण जिम्मेवारी व्यक्ति पर है।² इस धर्म के अनुसार, व्यक्ति की आत्मा शुभ और अशुभ प्रवृत्तियों का युद्ध स्थल है और व्यक्ति योद्धा के रूप में इनमें से किसी एक का पक्ष लेकर युद्ध में भाग लेता है। दोनों में से किसी एक का पक्ष लेना व्यक्ति के इच्छा-स्वातन्त्र्य पर निर्भर है ("The soul of an individual is represented as a battle field of the good and the evil spirits and every individual is a warrior under the dominance of the power of light or darkness. Every individual has free choice and he may follow Light or Darkness)। इस प्रकार, इच्छा-स्वातन्त्र्य का समर्थन करके पारसी धर्म नैतिकता के लिए स्थान सुरक्षित कर देता है।

पारसी धर्म के तीन मूल सिद्धान्त हैं—(1) अहुरामजदा को ईश्वर के रूप में ग्रहण करना, (2) आत्मा की अमरता में विश्वास और (3) व्यक्ति को विचार एवं कर्मों के लिए जिम्मेवार मानना। प्रथम सिद्धान्त, पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है। ईश्वर का जो स्थान अन्य ईश्वरवादी धर्मों में हैं, ठीक वही स्थान देना प्रत्येक पारसी के लिए आवश्यक बतलाया गया है। अहिंसा पर यहाँ जोर दिया गया है। किन्तु अवसर—विशेष पर हिंसा का भी समर्थन किया गया है। बाघ, सर्प, बिच्छु आदि हिंसक जीवों की हत्या को उचित माना गया है। लालच, अहंकार, असत्य, चोरी, धोखाबाजी, मार—पीट आदि का पूर्ण निषेध होना चाहिए। अपशब्द, भिक्षाटन आदि से दूर रहने का आदेश दिया गया है।

इस धर्म में कर्म की प्रधानता बतलायी गयी है। इस विश्व में अपने कर्तव्यों का पालन अनिवार्य माना गया है। यहाँ पारसी धर्म और हिन्दू धर्म में समानता है। इनमें से कोई भी धर्म विश्व से संन्यास लेने की बात नहीं करता। हिन्दू धर्म की भाँति ही पारसी धर्म भी चार वर्णों में विश्वास रखता है—(क) होरिस्तान (पुराहित या ब्राह्मण), नूरिस्तान (योद्धा), (ग) रोजिस्तान (कृषक) और (घ) मोरिस्तान (सेवक)। ये चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) से मिलते—जुलते हैं। वैवाहिक जीवन का इस धर्म में पवित्र स्थान है। पशुपालन इस धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों में

एक है। गाय, कुत्ते, बकरे आदि उपयोगी पशुओं की रक्षा एवं उनका पालन—पोषण प्रत्येक पारसी अपना पवित्र कर्तव्य मानता है।

पारसी धर्म अग्नि, पृथ्वी और पानी को पवित्र मानते हैं। यही कारण है कि व्यक्ति की मृत्यु के बाद ये शव को न तो भूमि के अन्दर गाड़ते हैं, न इसे जल में फेंकते और न इसे जलाते हैं। पारसी शव को किसी चबूतरे, वृक्ष या पहाड़ की चोटी पर रख देते हैं, जिसे गिद्ध आदि जीव नोचकर खा जाते हैं। ऐसा करने से शव अग्नि, जल और पृथ्वी को अपवित्र नहीं बना पाते। अन्तेष्टि—क्रिया का यह अनूठा प्रचलन पारसी धर्म की अपनी विशेषता है।

पारसी और हिन्दू धर्म दोनों ही का उद्गम—स्थान एक ही है। इतिहास बतलाता है कि पहले—पहल आर्यों का एक जत्था हिमालय से दक्खिन की ओर आकर गंगा सिन्धु के विख्यात भूभाग पर कब्जा जमाने में समर्थ हो सका। आर्यों का दूसरा जत्था हिमालय से पश्चिम की ओर बढ़कर ईरान में अपना निवास स्थान बनाने में सफल हुआ। बाद में ईरानियों ने और भी कई देशों पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार इनका अधिकार सम्पूर्ण मध्य एशिया पर स्थापित हो गया। गंगा—सिन्धु के मैदान को दखल करनेवाले आर्यों का धर्म हिन्दू धर्म के नाम से विख्यात

है। ईरान में रहने वाले आर्यों के धर्म को पारसी धर्म (Zoroastrianism) कहा जाता है। इस प्रकार, दोनों ही धर्मों की उत्पत्ति एक ही स्रोत से हुई है। दोनों ही पर अपने आर्य-पूर्वजों का प्रभाव दीख पड़ता है। यही कारण है कि इन दोनों धर्मों में कई महत्त्वपूर्ण बातों में समानता पायी जाती है।

हिन्दू धर्म और पारसी धर्म दोनों ही अनेकेश्वरवाद (polytheism) से आरंभ कर एकेश्वरवाद (monotheism) पर पहुँचते हैं। हिन्दू धर्म में, विशेषकर वैदिक काल में, अनेक देवी-देवताओं का उल्लेख मिलता है। इनमें से कुछ देव अच्छे स्वभाव के हैं, तो कुछ बुरे स्वभाव के हैं। अच्छे स्वभाव के देवों को 'देव' या देवता कहते हैं तथा बुरे स्वभाव के देव को 'असुर' कहा जाता है। इस अनेकेश्वरवाद में प्रकृति के विभिन्न अंगों (जैसे-सूर्य, चन्द्रमा, तारे, उषा आदि) को ईश्वर के रूप में पूजा का विषय माना जाता है। इसीलिए इसे 'प्रकृतिवादी अनेकेश्वरवाद' कहते हैं। यह अनेकेश्वरवाद (naturalistic polytheism) धार्मिक भावना को सन्तुष्ट न कर सका। यही कारण है कि अन्त में एकेश्वरवाद (monotheism) की स्थापना हुई। इसके अनुसार, ईश्वर एक ही है, किन्तु सुविधानुसार विभिन्न विचारक इसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं।

पारसी धर्म भी देखने में अनेकेश्वरवाद जैसा लगता है, इसमें अहुरामजदा और अहरिमन दो परम सत्ताओं को स्वीकार किया गया है। अहुरामजदा हिन्दुओं के शुभ देव के सदृश हैं और यह सभी अच्छाइयों का आधार है। अहरिमन दुष्ट देव या असुर की भाँति है जो विश्व की सभी बुराइयों (evils) की जड़ है। इन दोनों के अतिरिक्त अन्य कई देवी-देवता भी हैं। इस प्रकार, पारसी धर्म अनेकेश्वरवाद के रूप में दीख पड़ता है। किन्तु इसके प्रवर्तक जोरोस्टर का कहना है कि ईश्वर एक ही है जिसे अहुरामजदा कहते हैं। अहरिमन का अस्तित्व शाश्वत नहीं है। एक-न-दिन दिन अहरिमन की पूर्ण पराजय होगी और इसका अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। उस स्थिति में केवल अहुरामजदा रह जाता है। इसलिए पारसी धर्म का विकास भी एकेश्वरवाद में होता है। इस प्रकार, पारसी धर्म और हिन्दू धर्म दोनों ही अनेकेश्वरवाद से आरंभ करके एकेश्वरवाद (monotheism) में विकसित होते हैं।

पारसी धर्म का मूल ग्रन्थ अवेस्टा (Avesta) है, जो जेन्द (Zend)-भाषा में लिखा हुआ है। हिन्दुओं के पवित्र धार्मिक ग्रन्थ वेद हैं जो संस्कृत-भाषा में लिखे गये हैं। जेन्द-भाषा और संस्कृत-भाषा में काफी समानता है। अवेस्टा और वेद दोनों ही में काव्य का सिलसिला भी समान ही है। अवेस्टा का अर्थ ज्ञान

होता है। हिन्दू धर्म में वेद का भी अर्थ ज्ञान ही है। दोनो धर्मों के मूल ग्रन्थ, उसकी भाषा एवं उनकी पद्य-प्रणालियाँ काफी हद तक एक-दूसरे के समान कहे जा सकते हैं।

शुभ और अशुभ की समस्या को सुलझाने का प्रयास दोनों ही धर्मों में किया गया है। पारसी धर्म शुभ एवं अशुभ (good and evil) के बीच अनवरत संघर्ष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। अहुरामजदा (शुभ के प्रतीक) और अहरिमन (अशुभ के प्रतीक) के बीच चल रहे संघर्ष में प्रत्येक व्यक्ति को अहुरामजदा का पक्ष लेना आवश्यक बतलाया गया है। पारसी धर्म का यह भी विश्वास है कि अन्त में अहुरामजदा अर्थात् शुभ की विजय और अहरिमन अर्थात् अशुभ की पराजय निश्चित है।

हिन्दू धर्म भी शुभ एवं अशुभ के बीच अनवरत रूप से चल रहे संग्राम को स्वीकार करता है और घोषणा करता है कि अन्तिम विजय सत्य की होगी ('सत्यमेव जयते')। हिन्दू-पुराणों में देव और दानवों के बीच संघर्ष की चर्चा हुई है और अन्त में देवों (gods) की दानवों (devils) पर विजय दिखलायी गयी है। राम और रावण, पाण्डव और कौरवों के युद्ध शुभ और अशुभ के बीच युद्ध के प्रतीक हैं। इन सभी युद्धों में अशुभ पर शुभ की विजय हुई है। गीता में भी कहा गया है कि मानव-शरीर युद्ध-क्षेत्र है जहाँ देवी और आसुरी प्रवृत्तियों का सतत् संघर्ष चलता रहता है।

भगवान् कृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सत्य अर्थात् शुभ की विजय और असत्य अर्थात् अशुभ की पराजय ध्रुव सत्य है। इस प्रकार, पारसी और हिन्दू दोनों ही धर्म शुभ एवं अशुभ के बीच चल रहे सतत् संग्राम को मानते हुए शुभ की अशुभ पर विजय की घोषणा करके आशावाद (optimism) का सन्देश देते हैं।

पारसी धर्म के अहुरामजदा और हिन्दू धर्म के ईश्वर के स्वरूप में काफी समानता हैं। दोनों ही धर्म ईश्वर को विश्व का रचयिता, पालन कर्ता एवं संहारक मानते हैं। दोनों ही के अनुसार, ईश्वर सर्वशाक्तिमान, सर्वव्यापी एवं सर्वज्ञ है। दोनों ही धर्म दयालुता, करुणा, स्नेह, सहानुभूति आदि महान् गुणों का ईश्वर में आरोपण करते हैं। दोनों ही के अनुसार, ईश्वर न तो विश्व में पूर्णतः व्याप्त है और न पूर्णतः अव्याप्त है। ईश्वर विश्वव्यापी और विश्वातीत (immanent and transcendent) दोनों है। पारसी धर्म में ईश्वर (अहुरामजदा) की सृजनात्मक शक्ति का नाम 'स्पेन्तामेन्यु' (Spentamainyu) है। हिन्दू धर्म भी ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति को 'माया' या 'प्रकृति' की संज्ञा देता है। इस प्रकार, ईश्वर-सम्बन्धी विचारों में दोनों धर्मों में समानता देखने को मिलती है।

दोनों ही धर्मों का मत है कि सुख जीवन का चरम आदर्श नहीं माना जा सकता। कर्तव्य का पालन ही मानव का चरम

लक्ष्य है। अपने कर्मों से अशुभ के त्याग पर ही व्यक्ति को सदैव निगरानी रखनी चाहिए।

पारसी धर्म और हिन्दू धर्म दोनों ही नैतिकता की भावना से ओत-प्रोत हैं। नम्रता, प्रेम, दया, सहानुभूति, अहिंसा, सत्य, शान्ति आदि सद्गुणों के विकास पर दोनों ने ही बल दिया है। इसी प्रकार चोरी, धोखेबाजी, भिक्षाटन, असत्य, इत्यादि कुकर्मों से अपने को बचाना व्यक्ति का पवित्र कर्तव्य बतलाया गया है। कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहते हुए जीवन की समस्याओं का हल ढूँढ़ना ही जीवन का आदर्श होना चाहिये। इनमें कोई भी धर्म जीवन और जगत् से भागकर व्यक्ति को गुफा में निवास करने का आदेश नहीं देता। दोनों ही धर्म वैवाहिक या गार्हस्थ जीवन को महत्त्वपूर्ण बतलाते हैं। उपयोगी पशुओं की रक्षा दोनों में ही वांछनीय है।

दोनों ही धर्मों में व्यक्ति के स्वतन्त्र संकल्प (free will) का समर्थन किया गया है। व्यक्ति अपने कर्मों के सम्पादन में स्वतन्त्र है। उसके सम्मुख शुभ और अशुभ कर्मों की भरमार है। उसे अपनी इच्छा के अनुकूल शुभ या अशुभ का चयन करना होता है। यदि वह शुभ कर्मों का अनुसरण करता है तो उसे पुरस्कार-स्वरूप सुख मिलता है और यदि वह अशुभ कर्मों का अनुसरण करता है तो उसे दण्ड-स्वरूप दुःख झेलना पड़ता है।

इच्छा—स्वातन्त्र्य (freedom of will) को स्वीकार करने के कारण दोनों ही धर्म व्यक्ति को उसके कर्मों के लिए उत्तरदायी बतलाते हैं।

पारसी और हिन्दू दोनों ही अग्नि को पवित्र एवं आराधना का विषय मानते हैं। अग्नि—पूजा दोनों ही के लिए धर्माचरण का आवश्यक अंग है। पारसी धर्म अग्नि को अहुरामजदा की सर्वश्रेष्ठ एवं पवित्र अभिव्यक्ति मानकर इसकी पूजा करता है। उसी प्रकार हिन्दू धर्म भी अग्नि (fire) को ईश्वर का सच्चा प्रतिनिधि मानकर इसकी साक्षी देकर महान् कार्यों के सम्पादन का आदेश देता है। यज्ञ एवं पूजा—पाठ में होम या धूप—दीप जलाना आवश्यक माना जाता है और इसके लिए अग्नि (fire) की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती है। वैदिक ऋषि अग्नि को सर्वश्रेष्ठ देवों में गणना करते थे। आज भी बिना अग्नि के कोई भी हिन्दू धार्मिक कृत्य सम्पादित नहीं हो सकता।

दोनों ही धर्मों में चातुर्वर्ण्यम् का समर्थन किया गया है। पारसी धर्म में चार वर्ण है—(1) होरिस्तान (पुरोहित), (2) नूरिस्तातान (योद्धा) (3) रोजिस्तान (कृषक) और (4) मोरिस्तान (सेवक)। इस वर्ण व्यवस्था के अनुकूल ही हिन्दू धर्म ने भी चार वर्णों को अपनाना है। ये हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। दोनों की वर्णव्यवस्था में पर्याप्त समानता है।

दोनों ही धर्म व्यक्ति के धार्मिक जीवन को मोक्ष का आधार बतलाते हैं। व्यक्ति अपने निजी धार्मिक एवं पवित्र आचरण से मुक्ति (liberation) प्राप्त कर सकता है। ज्ञान, कर्म और भक्ति मुक्ति के विभिन्न साधन बतलाये गये हैं। अपनी क्षमता एवं प्रकृति के अनुकूल व्यक्ति इनमें से किसी भी मार्ग को अनुसरण करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है। दोनों ही धर्मों में वैयक्तिक मुक्ति (individual liberation) के साथ-ही-साथ सामूहिक मुक्ति (collective liberation) का महत्त्व स्वीकार किया गया है। लोक कल्याण की भावना से सतत् प्रयत्नशील रहना वांछनीय माना गया है। उद्धारक (saviour) को दोनों ही धर्म उच्च स्थान देते हैं। आत्मा की अमरता में दोनों ही धर्मों का विश्वास है।

उपर्युक्त समानताओं के बावजूद दोनों में कुछ अन्तर भी हैं। दोनों ही धर्मों में वातावरण, रहन-सहन आदि के परिवर्तन होने से कई अन्तर भी हैं। अन्त्येष्टि-किया को लेकर दोनों में स्पष्ट अन्तर देख पड़ता है। पारसी-धर्मावलम्बी शव को किसी ऊँचे स्थान पर रख देते हैं, ताकि गिद्ध आदि जीव उसे नोचकर खा जायें। शव को अग्नि में इसलिए नहीं जलाया जाता क्योंकि अग्नि के अपवित्र होने का भय बना रहता है। ठीक इसके विपरीत, हिन्दू धर्म में शव को जलाने की प्रथा है। अग्नि में इतनी शक्ति है कि यह अपवित्र वस्तु को भी पवित्र बना देती है। अग्नि

के स्वयं अपवित्र या अशुद्ध होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसके अलावा, दोनों धर्मों में कई और अन्तर हैं।

Reference

1. "So, the religion of Zoroaster may be said to be, as Jackson points over, both dualistic and monotheistic" -Prof. K. N. Misra : Dynamics of Faith, (p.37)
2. "Man is free in his choice, he can select the good or the bad; hence he is responsible for his actions." Quoted in 'Glimpses of World Religion', (p. 131)

अध्याय-5

ईसाई धर्म

ईसाई धर्म में ईश्वर का स्थान

ईसाई धर्म ईश्वरवादी (theistic) धर्म का उत्कृष्ट नमूना है। यह एकेश्वरवादी (monotheistic) धर्म है। यहाँ एक ही ईश्वर को परम सत्ता माना गया है। यह ईश्वर सर्वशक्तिशाली, सर्वज्ञ एवं पूर्ण है। इस ईश्वर की सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह व्यक्तित्वपूर्ण (personal) है। यहाँ ईसाई धर्म शंकर एवं ब्रेडले के विचार से भिन्न है। शंकर और ब्रेडले (Bradley) दोनों ही परम सत्ता (ultimate reality) को निर्गुण एवं व्यक्तित्वहीन (impersonal) मानते हैं। किन्तु ईसाईयों के अनुसार ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है।

ईसाई धर्म का ईश्वर विश्वातीत (transcendent) एवं विश्वव्यापी (immanent) दोनों है। इसमें अनन्त दृष्टि, अनन्त ज्ञान, करुणा, दया आदि महान् गुण विद्यमान हैं। वह विश्व एवं स्वर्ग का स्वामी है। उसमें न्यायप्रियता, पवित्रता एवं परोपकारिता आदि का आरोपण किया जाता है। विश्व का संचारक एवं नैतिक शासक ईश्वर ही है।

ईसाई धर्म का ईश्वर प्रेम से भरपूर है। वह अपने भक्तों से प्रेम एवं आदर की आशा रखते हुए उन्हें स्वयं प्रेम प्रदान करता है। अपने पुजारियों के बीच प्रेम-भावना का वितरण करना

उसकी मुख्य विशेषता है। वह केवल नैतिक शासक ही नहीं है; व्यक्तियों के कर्मों का मूल्यांकन करना भी उसका काम है। जुडाइज्म का ईश्वर भी विश्व का शासक एवं नैतिक निर्देशक है; किन्तु ईसाई धर्म का ईश्वर अपने भक्तों के प्रति करुणा एवं प्रेम से ओतःप्रोत है। यहाँ ईश्वर और मानव के बीच पिता—पुत्र का सम्बन्ध है। जिस प्रकार पिता सदैव अपनी सन्तानों के कल्याण का ध्यान रखता है, उसी प्रकार ईश्वर भी प्राणियों के प्रति सदैव स्नेहमय एवं कल्याणशील रहता है। यह ईश्वर इस्लाम के ईश्वर से भिन्न है। इस्लाम—धर्म के अनुसार, ईश्वर और मनुष्य में मालिक एवं नौकर का सम्बन्ध रहता है।

ईसाइयों का ईश्वर यहूदियों के ईश्वरवादी विचार का परिष्कृत रूप है। चूंकि इसका उद्गम स्थान वही है। इस सम्बन्ध में रसेल ने ठीक लिखा है— Christianity, at first, was preached by Jews to Jews, as a reformed Judaism St. James, and to a lesser extent St. Peter, wished it to remain no more than this, and they might have prevailed but for St. Paul, who was determined to admit gentiles without demanding circumcision or submission to the Mosaic Law. Christianity owing to St. Paul, retained what was attractive in the doctrines of the Jews, without the features that gentiles found hardest to assimilate.”

ईसाई धर्म में स्वयं ईसा मसीह को जीवित ईश्वर माना जाता है। यहाँ त्रिमूर्ति (trinity) का सिद्धान्त पाया जाता है। इसके अनुसार, ईश्वर ईसा मसीह तथा उनकी पवित्र आत्मा ईश्वर की त्रिमूर्ति है। ये तीनों देखने में परस्पर भिन्न हैं, किन्तु वास्तव में ये एक ही ईश्वर के तीन रूप हैं। यहाँ ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म में समानता पायी जाती है। हिन्दू धर्म में भी ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश (विश्व का रचयिता, पालन कर्ता एवं संहर्ता) को 'त्रिदेव' (three gods) का स्थान दिया गया है। हिन्दू भी इन तीन देवों को एक ही ईश्वर के तीन रूप मानते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने भी इस बात की पुष्टि की है।

ईसाई धर्म में ईश्वर को विश्व का केवल निमित्त-कारण (efficient cause) माना गया है, न कि उपादान (material) कारण। उसने स्वेच्छापूर्वक शून्य से विश्व की रचना की है। विश्व की रचना के लिए उसे किसी वस्तु या उपादान की सहायता नहीं लेनी पड़ी है। विश्व की रचना के मूल में उसका कोई उद्देश्य नहीं है। उसकी इच्छा हुई कि विश्व बने और विश्व बनकर तैयार हो गया (He wished that there should be a world and world came into existence.)

ईसाई धर्म का ईश्वर 'प्रेममय' है। यहूदी धर्म ईश्वर को प्रेममय नहीं मानता। यहाँ ईसाई धर्म और यहूदी धर्म में स्पष्ट

अन्तर है। यहूदियों के अनुसार, ईश्वर का प्रेम सभी की नहीं मिल पाता। ईश्वर केवल उन्हीं व्यक्तियों को प्यार करते हैं, जो शुभ हैं, ईश्वर में आस्था रखते हैं और पड़ोसी के प्रति निःस्वार्थ प्रेम-भाव दिखलाते हैं। इस धर्म में पड़ोसी के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह अत्यन्त आवश्यक माना गया है। यहाँ पड़ोसी के एक विशिष्ट अर्थ में लिया गया है। 'पड़ोसी' शब्द है जो आवश्यकता महसूस करता है। इस प्रकार 'पड़ोसी' शब्द के अन्तर्गत विश्व के सभी जरूरतमन्द व्यक्ति आ जाते हैं। पड़ोसी के प्रति अगाध प्रेम का पाठ पढ़ाने के कारण ईसाई धर्म की महानता और अधिक बढ़ जाती है। जो व्यक्ति पड़ोसियों को प्यार नहीं करते, वे ईश्वर का प्रेम प्राप्त नहीं कर सकते।

ईसाई धर्म का ईश्वर क्षमा एवं दया की साक्षात् मूर्ति है। यह ईश्वर पापियों का उद्धारक है। यदि कोई व्यक्ति अपने पाप को स्वीकार कर उसका प्रायश्चित्त करता है, तो ईश्वर उसे सहज ही क्षमा कर देता है। जो व्यक्ति अपने शत्रुओं के प्रति भी प्रतिकार का भाव नहीं रखते, उन्हें ईश्वर प्यार करता है। ईश्वर के सम्मुख अपने दुष्कर्मों को स्वीकार करके व्यक्ति सहज ही पाप से मुक्त हो जाता है। भक्तों को इस विश्वास से अपूर्ण बल मिलता है। ईसा ने फाँसी पर चढ़ते हुए भी अपने शत्रुओं के प्रति क्षमाशीलता को कायम रखा। उनकी अन्तिम प्रार्थना थी—

“भगवान, इनको क्षमा करना, ये बेचारे नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।”¹

इनके संस्कार से शैतान समझ गया कि ईसा ईश्वर पुत्र है, उन्हें विचलित नहीं किया जा सकता है। अतः वह उन्हें छोड़कर चला और स्वर्ग दूत आकर उनकी सेवा-परिचर्या करता रहा। स्वर्गदूत ने मरियम से कहा— मरियम, डरो नहीं। आपको ईश्वर की कृपा हुई है। मानव पुत्र ईसा: जीवन और दर्शन नामक पुस्तक में रघुवंशजी ने भी लिखा है— एकाएक इस स्वर्गदूत के साथ स्वर्गीय सेना का समूह दिखाई दिया, जो उसके साथ ईश्वर की स्तुति इन शब्दों में करने लगा— “सर्वोच्च स्वर्ग में ईश्वर की महिमा प्रकट हो और पृथ्वी पर उसके कृपा पात्रों को शान्ति प्राप्त हो।”

ईसाइयों के धर्म-ग्रन्थ बाइबिल में भी ईसा को ईश्वर का पुत्र कहा गया है। ईसा स्वयं अपने अन्दर सदैव ईश्वर का अनुभव किया करते थे। उन्होंने ईश्वर को उसके वास्तविक रूप में अभिव्यक्त किया है। वे सब काम करने में समर्थ थे, जो ईश्वर मानव के लिए आवश्यक मानता है। उन्होंने अपने को कभी भी ईश्वर नहीं बतलाया, बल्कि ‘ईश्वर का पुत्र’ घोषित किया। यह उनकी नम्रता का ज्वलन्त उदाहरण है। वास्तव में ईसा स्वयं ईश्वर के रूप थे। वे ईश्वर और मानव के बीच आवश्यक कड़ी

का काम करते थे। सन्त पाल ने ईसा को अमर बतलाया हैं। बिना पिता के ही उनका जन्म ग्रहण करना इसका प्रमाण है। ईसा सूली पर चढ़कर भी अमर है। ईसाई धर्म में ईसा, उनके पिता अर्थात् ईश्वर तथा उनकी पवित्र आत्मा एक ही ईश्वर के तीन रूप माने गये हैं।

ईश्वर का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? हिन्दू धर्म रहस्यवाद में विश्वास रखता है। इसके अनुसार, व्यक्ति में जब अलौकिक शक्ति या योग्यता का उदय होता है, तो उसे ईश्वर का दर्शन या ज्ञान होता है। वेदान्त-दर्शन के अनुसार, जब व्यक्ति को आत्मज्ञान हो जाता है तो उसे ईश्वर का साक्षात्कार होता है। ईसाई धर्म इसे स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार, ईश्वर का ज्ञान व्यक्ति की योग्यता एवं क्षमता पर निर्भर नहीं है, बल्कि ईश्वर की कृपा एवं इच्छा पर निर्भर है। ईश्वर जिस व्यक्ति को दर्शन देना चाहता है, उसे ही उसका दर्शन होता है। जिस व्यक्ति के सम्मुख ईश्वर अपने को प्रकट करना चाहता है, उसी को उसका दर्शन हो पाता है।

इस प्रकार ईश्वर की कृपा से ही व्यक्ति ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। हिन्दू और बौद्ध धर्मों में पाया जानेवाला रहस्यवादी दृष्टिकोण ईसाई धर्म को मान्य नहीं है। रहस्यवाद मानव के ईश्वर बनने की संभावना में विश्वास रखता है। किन्तु

ईसाई धर्म स्पष्ट घोषणा करता है कि मानव कभी ईश्वर नहीं बन सकता। क्योंकि मनुष्य सब कुछ नहीं बना सकता है जबकि ईश्वर सब कुछ बना सकता है। रसेल के शब्दों में “All things were made by Him, and without Him was nothing made that which was made by Him is life, but God, the word of God is that true light that lighteth every man that cometh into the world., सन्त एम्ब्रोस, सन्त जेरोम, सन्त अगस्तिन और पोप ग्रेगरी ने भी इस बात की पुष्टि की है।

ईसाई धर्म का ईश्वर दुर्बलों एवं पीड़ितों का संरक्षक एवं सहारा है। वह सदैव दुर्बलों की मदद के लिये तत्पर रहता है। ईसा ईश्वर के पुत्र हैं। इसलिये ईश्वर गरीबों एवं दुर्बलों का दुःख दूर करता है। दुर्बल एवं पतित स्त्रियों के दुःखों के प्रति वे सदैव सहनुभूति दिखलाते रहते हैं। बच्चों एवं औरतों के प्रति ईश्वर विशेष रूप से करुणाशील रहता है। इस प्रकार, ईसाइयों का ईश्वर पद्दलितों, गरीबों एवं पीड़ितों का उद्धारक है। आज भी रोगियों एवं दुःखी व्यक्तियों के लिये गिरजा घरों की तरफ से व्यवस्था की जाती है।

विश्व का स्वरूप

ईसाई धर्म के अनुसार विश्व की रचना होने के कारण सत्य है। ईश्वर ने विश्व की रचना शून्य से की है। सृष्टि के

लिए उन्होंने किसी उपादान या सामग्री की मदद नहीं ली है। विश्व की सृष्टि किसी काल-विशेष में की गयी है।

ईश्वर ने विश्व की रचना किस अभिप्राय से की है? ईसाई-धर्म के अनुसार, ईश्वर सर्वांगपूर्ण (all perfect) है। उसकी कोई भी इच्छा अपूर्ण नहीं है। उसे किसी वस्तु की कमी महसूस नहीं होती। इसलिए इस विश्व की रचना के मूल में उनका कोई अभिप्राय नहीं है। यदि यह मान लिया जाय कि वह किसी इच्छा की पूर्ति के लिए सृष्टि करता है, तो इससे उसकी पूर्णता में कमी आती है। अतः विश्व की उत्पत्ति के मूल में ईश्वर का कोई खास लक्ष्य नहीं है।

ईसाई धर्म में ईश्वर प्रेममय (loving) माना गया है। प्रेम एवं करुणावश उसने विश्व की सृष्टि की है। सृष्टि के लिए वह बाध्य नहीं है। वह बिना किसी दबाव के ही प्रेमवश विश्व की रचना करता है। विश्व अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर पर आश्रित है। इसकी रचना एवं व्यवस्था ईश्वर के हाथों में है।

ईसाई धर्म के अनुसार, विश्व अपूर्ण है, क्योंकि वहाँ अशुभ, पाप एवं बुराईयों की भरमार है। ईश्वर ने मनुष्य को इच्छा-स्वातंत्र्य (freedom of will) प्रदान किया है। उसके सम्मुख शुभ और अशुभ दोनों विकल्प रखे गये हैं। उसे इनमें से किसी एक का चुनाव स्वेच्छा से करना है। यदि वह अशुभ का चुनाव

करता है, तो विश्व में बुराईयाँ एवं पाप फैलते हैं। विश्व में अशुभ की उपस्थिति के लिए ईश्वर उत्तरदायी नहीं है। इसकी जिम्मवारी स्वयं मनुष्य पर लादी जा सकती है।

ईसा मसीह ने इस विश्व को अपूर्ण इसलिए भी कहा है कि क्योंकि यहाँ केवल अमीरों की चलती है।² विश्व-समाज में गरीबों एवं पददलितों के लिए कोई स्थान नहीं है। प्राणी दिन-रात यहाँ धन-संग्रह करने में लगे रहते हैं। प्रत्येक वस्तु यहाँ क्षणिक व नश्वर है। नश्वर पदार्थ के पीछे दौड़ना मूर्खता है। ईसा मसीह विश्व में धन एकत्र करने की भावना का तिस्कार करते हुए कहते हैं – "The meaning of life cannot consist in what we possess and acquire. He who labours personally and accumulates riches knows that one thing is awaiting him and that is death." सांसारिक धन-दौलत ईश्वर तक पहुँचने में व्यक्ति को बाधा पहुँचाते हैं। ईसाई धर्म का यह विचार हिन्दू धर्म के मत से मिलता-जुलता है। हिन्दू धर्म भी धन-संग्रह को मोक्ष के मार्ग में बाधक मानता है। इस प्रकार, विश्व में धन-दौलत के पीछे दौड़ने वालों का जमघट लगा रहता है, जो आध्यात्मिकता के मार्ग में रुकावट डालता है। ईसाई धर्म विश्व में अशुभ को मिथ्या नहीं मानता। अशुभ एक यथार्थता (reality) है। अशुभयुक्त विश्व को पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

ईसाई धर्म विश्व को निरर्थक एवं महत्त्वहीन नहीं मानता। विश्व एक ऐसा स्थल है, जहाँ व्यक्ति अपने कर्मों से मोक्ष का दरवाजा खोल सकता है। यह कर्म भूमि है। ईसाई धर्म जीवन में कर्मों को बहुत महत्त्व देता है। इस प्रकार, विश्व कर्मभूमि होने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

ईश्वर अपने को विश्व के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। ईश्वर की अभिव्यक्ति का माध्यम होने से विश्व की महत्ता बढ़ जाती है। मानव विश्वरूपी माध्यम से ईश्वर के निकट पहुँच सकता है। यहाँ ईसाई धर्म और यहूदी धर्म में समानता पायी जाती है। विश्व ईश्वर के समकक्ष नहीं कहा जा सकता। ईश्वर विश्व में है और विश्व के बाहर भी है। इसलिए विश्व ईश्वर का रूप नहीं ले सकता। यह तो ईश्वर की एक रचना है। रचना होने के कारण इसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता। विश्व अपूर्ण होते हुए भी कई अर्थों में महत्त्वपूर्ण है। रसेल एवं फ्रैंक थिली ने भी इस बात की पुष्टि की है।

मानव का स्वरूप

ईसाई धर्म के अनुसार, ईश्वर ने मानव को अपने अनुरूप बनाया है। इसीलिए मानव को ईश्वर की प्रतिमा कहा गया है। मानव ईश्वर की संतान है। मनुष्य और ईश्वर में पुत्र और पिता का सम्बन्ध है। ईश्वर सदैव मनुष्यों के ऊपर प्रेम दृष्टि रखता है।

आवश्यकता पड़ने पर उनकी मदद के लिए सदैव तत्पर रहता है।

मानव ईश्वर की प्रतिमा और अत्यधिक प्रिय होने पर भी ईश्वर—तुल्य नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति कभी भी ईश्वर नहीं बन सकता। यहाँ ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म में स्पष्ट अन्तर दीख पड़ता है। हिन्दू धर्म मानव के ईश्वर बनने की संभावना में पूर्ण विश्वास रखता है। तत्त्व—ज्ञान प्राप्त होने पर व्यक्ति और ईश्वर में द्वैत नहीं रहता। दोनों एकाकार हो जाते हैं। वेदान्त धर्म की यह स्पष्ट घोषणा है— 'तत्त्वमसि' (That thou art), 'अहम् ब्रह्मास्मि' (I am Brahman) इत्यादि कथन आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता प्रमाणित करते हैं। ईसाई धर्म आत्मा और परमात्मा में एक प्रकार की खाई स्वीकार करता है। बाइबिल के अध्ययन से इस बात की सम्पुष्टि हो जाती है।

ईश्वर पूर्ण, असीम एवं सर्वशक्तिशाली है। वह चमत्कारपूर्ण है। इसके विपरीत, मानव अपूर्ण, सीमित, दुर्बल एवं ईश्वरीय चमत्कारों से हीन है।

ईश्वर ने मनुष्य को अपनी प्रतिमा के रूप में बनाया है। उस समय मनुष्य निर्दोष था। किन्तु उसने अशुभ का चयन किया और वह पापी एवं दुराचारी बन गया। व्यक्ति ईश्वर की प्रतिभा के रूप में उत्पन्न हुआ, किन्तु अपने पापों के चलते उच्च स्तर से

नीचे गिर गया। हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसॉफी में भी इस बात की पुष्टि की गई है। अर्थात् शैतान की चाल में हौआ (Eve) नहीं फँसती तो कभी आदम को फल खाने के लिये विवश नहीं करती और तब सृष्टि नहीं होती। परिणामस्वरूप उन्हें दुःख भोगना नहीं पड़ता। अतः यह संसार पाप का परिणाम है। सन्त अगस्टिन ने भी इस बात की पुष्टि की है। रसेल के शब्दों में “St Augustine taught that Adam, before the Fall, had free will, and could have abstained from sin.”

ईसाई धर्म में मानव को स्वतन्त्र संकल्प प्राप्त है। वह शुभ या अशुभ को अपनाने के लिए पूर्णतः स्वतन्त्र है। ईश्वर उसे इनमें से किसी एक को चुनने के लिए बाध्य नहीं करता। यदि व्यक्ति अशुभ का चुनाव करके विश्व में पाप एवं दुराचार फैलाता है तो वह ईश्वर की दृष्टि में पतित माना जाता है। ऐसे पापी व्यक्ति ईश्वर का प्रेम नहीं प्राप्त कर सकते। वे लोग भी ईश्वर के प्रेम से वंचित हैं, जो अपने पड़ोसियों के प्रति प्रेम, सहानुभूति एवं दया नहीं दिखलाते। वे ही लोग ईश्वर के लिये प्रिय हैं, जो शुभ का चयन करते हैं और सभी प्राणियों, विशेषकर पड़ोसियों को प्यार करते हैं। मानव को अपने अन्दर विद्यमान धर्म, न्याय, प्रेम आदि गुणों को विकसित करना चाहिए।

ईसाई धर्म आध्यात्मिक धर्म होने पर भी शरीर का महत्त्व स्वीकार करता है। शरीर शुभ नहीं कहा जा सकता। शरीर धारण

करते हुए भी व्यक्ति पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। शरीर आदर्श जीवन के मार्ग में बाधक नहीं कहा जा सकता। आध्यात्मिक प्रगति में शरीर एक महत्त्वपूर्ण साधन है। स्वयं ईसा मसीह ने इस शरीर के द्वारा अनेक महान् कार्यों को सम्पादित किया। इस प्रकार, ईसाईधर्म शरीर को तुच्छ न मानकर इसे यथोचित महत्त्व प्रदान करता है। जेरोम, जो बाईबिल के अनुवाद माने जाते हैं, सन्त पौल की मृत्यु के पश्चात् एन स्पीटाफ कम्पोज किया है। उसमें एक नन को क्राइस्ट का ब्राइड कहा गया है— A nun is the Bride of christ, this marriage is celebrated in the song of Solomon,” इन्होंने ईश्वर के मदर इन लॉ की भी चर्चा की है। इस मदर की आज्ञानुसार चलना सुखद है।

ईसाई धर्म में अशुभ की समस्या (The problem of evil)

प्रत्येक धर्म में अशुभ की समस्या का समाधान ढूँढ़ने का प्रयास किया जाता है। यह समस्या एकेश्वरवादी धर्म (monotheism) में और जटिल हो जाती है। ईश्वर को साधारणतः सर्वशक्तिशाली, दयालु एवं पूर्ण माना जाता है। विश्व में दुःख, अशुभ एवं बुराइयों का जाल बिछा हुआ है। अब प्रश्न है – यदि विश्व का रचयिता ईश्वर है जो सर्वशक्तिशाली, शुभ एवं दयालु है तो फिर विश्व में अशुभ (evil) क्यों दीख पड़ते हैं? यदि ईश्वर जान-बूझकर विश्व में अशुभ को प्रवेश करने देता है तो उसे

दयालु एवं शुभ नहीं कहा जा सकता। यदि ईश्वर के न चाहने पर भी विश्व में अशुभ आ गया है तो ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं माना जा सकता। इस प्रकार, ईश्वरवादियों के सम्मुख अशुभ की जटिल समस्या उठ खड़ी होती है। विश्व में अशुभ की उपस्थिति ईश्वर की सर्वशक्तिमानता, दयालुता एवं उसके शुभत्व के साथ असंगत (inconsistent) दीख पड़ती है।

अशुभ क्या है? अशुभ शुभ का पूर्ण विरोधी है। शुभ वह है जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य साधारणतः प्रयत्नशील रहता है। अशुभ वह है जिसको त्यागने की इच्छा सभी लोग रखते हैं। कभी-कभी शुभ (good) को सुख का उत्पादक और अशुभ (evil) को दुःख का उत्पादक कहा जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार, शुभ आत्मनिर्माण के कार्य में सहायक है, किन्तु अशुभ आत्मनिर्माण के कार्य में बाधक सिद्ध होता है।

अशुभ के प्रकार (Kinds of Evil)

अशुभ के कई प्रकार हैं। अशुभ के कुछ प्रमुख प्रकार ये हैं –

1. बौद्धिक अशुभ (Intellectual) – अज्ञान, मिथ्या ज्ञान इत्यादि इस अशुभ के उदाहरण हैं।
2. सौन्दर्य-सम्बन्धी अशुभ – कुरूपता आदि इसका उदाहरण है।

3. नैतिक अशुभ (moral evil) – पाप, हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि नैतिक अशुभ के उदाहरण हैं।
4. तात्त्विक अशुभ (metaphysical evil) – कोई भी रचना सर्वांगपूर्ण नहीं कही जा सकती। उसमें कुछ-न-कुछ दोष अवश्य रहता है। इसे ही तात्त्विक अशुभ कहते हैं।
5. सामाजिक अशुभ (social evil) – अस्पृश्यता, शोषण, दरिद्रता आदि इस अशुभ के उदाहरण हैं।
6. प्राकृतिक अशुभ (natural evil) – भूकम्प, बाढ़, शारीरिक बीमारी आदि इसके उदाहरण हैं।

उपर्युक्त प्रकार के अशुभ केवल दो वर्गों के अन्दर रखे जा सकते हैं – (क) प्राकृतिक अशुभ (natural evil) और (ख) नैतिक अशुभ (moral evil)। प्राकृतिक अशुभ वे हैं, जो प्रकृति में विद्यमान हैं। भूकम्प, बाढ़, मृत्यु, सर्प, बाघ, शारीरिक बीमारियाँ आदि इसके उदाहरण हैं। नैतिक अशुभ वे हैं जिन्हें, मनुष्य अपने स्वतन्त्र संकल्प (free will) द्वारा उत्पन्न करता है। हिंसा, चोरी, व्यभिचार, पाप, डकैती आदि इस प्रकार के अशुभ के उदाहरण हैं। प्रायः सभी प्रकार के अशुभ इन्हीं दो वर्गों के अन्तर्गत आते हैं।

अशुभ की समस्या का समाधान (The solution of problem of evil)

प्राकृतिक अशुभ और ईश्वर के साथ संगति कैसे बैठ सकती है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि प्राकृतिक अशुभ व्यक्ति के सुधार के लिए ईश्वर द्वारा भेजे गये हैं। शारीरिक दुःख, कष्ट एवं बीमारियों का सुधारात्मक मूल्य (corrective or reformative value) है। पेट की गड़बड़ी या अपच एक ऐसी सजा है जिससे भयभीत होकर व्यक्ति एक निश्चित मात्रा में भोजन करता है। “यदि आग से हाथ न जले, तो बच्चा अपने को मृत्यु के गाल में अकाल ही डाल देगा। यदि बाघ न होते तो हरिण की चौकड़ी का विकास नहीं होता।” इस प्रकार प्राकृतिक अशुभ का विधान ईश्वर ने मानव के सुधार के दृष्टिकोण से किया।

कभी-कभी कहा जाता है कि प्राकृतिक अशुभ नैतिक आचरण का उल्लंघन करने वालों के लिए दण्डस्वरूप है।³ जब मनुष्य ईश्वर के आदेशों का उल्लंघन करता है, तो उसे प्राकृतिक अशुभ का शिकार होना पड़ता है। नैतिक आचरण का उल्लंघन करने के अपराध में ईश्वर बाढ़, भूकम्प, बाघ, भूख, बीमारी आदि को उत्पन्न करता है, जो मनुष्य को कष्ट देते हैं। महात्मा गांधी का भी विचार था कि छूआछूत की भावना के कारण अनेक प्राकृतिक अशुभ उत्पन्न हुए।

उपर्युक्त मत दोषपूर्ण हैं। यदि प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ के लिए दण्ड मात्र हैं तो इनसे केवल दोषी व्यक्तियों को ही कष्ट मिलना चाहिए था। किन्तु वास्तविकता यह है कि ये निर्दोष व्यक्तियों को भी अपार कष्ट देते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका सन्तोषप्रद उत्तर ईसाई धर्म के पास नहीं है।

कभी-कभी प्राकृतिक अशुभ को सफलता में सहायक (conducive to success) कहा जाता है। विश्व की प्रगति के लिए इसे आवश्यक बतलाया गया है। आत्मा के निर्माण के लिए दुःखों का रहना अनिवार्य है। बच्चे गिरने से ही चलना सीखते हैं। प्रो. ब्राइटमैन (Prof. Brightman) ने ठीक ही कहा है – “चरित्र का विकास कठिनाईयों द्वारा ही होता है।” पुनः उनके ही शब्दों में, “सहानुभूति का उद्भव दुःख से होता है।” इसलिए प्राकृतिक अशुभ के चलते विश्व की श्रेष्ठता में कोई कमी नहीं आती। इस प्रकार, प्राकृतिक अशुभ का विधान करके ईश्वर ने कोई अनुचित कार्य नहीं किया है।

नैतिक अशुभ का क्या कारण है? ईसाई धर्म व्यक्ति के स्वतन्त्र संकल्प (free will) में विश्वास रखता है। व्यक्ति के सम्मुख ईश्वर ने दो विकल्प रखे हैं – शुभ (good) और अशुभ (evil)। यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है कि वह इनमें से किसका चुनाव करता है। यदि वह शुभ का चुनाव करता है और

ईश्वर के प्रति प्रेम एवं आदर का भाव दिखलाता है तो अशुभ की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अशुभ की उत्पत्ति तब होती है, जब व्यक्ति अशुभ का चयन करके ईश्वर के प्रति घृणा एवं अनादर का भाव प्रदर्शित करता है। इस प्रकार, नैतिक अशुभ का कारण मानव स्वयं है। इसके लिए ईश्वर को दोषी नहीं कहा जा सकता। वंशपरम्परागत सिद्धान्त (theory of heredity) के अनुसार, अशुभ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक विश्व में फैलता जाता है।

ईसाई धर्म विश्व को अपूर्ण मानता है, क्योंकि इसमें अशुभ का साम्राज्य पाया जाता है। अब प्रश्न है— मनुष्य अशुभ को कैसे दूर कर सकता है? या, वह अपने को अशुभ से कैसे बचा सकता है? ईसाई धर्म का कहना है कि जो व्यक्ति ईश्वर को प्यार करते हैं, वे अशुभ के प्रभाव से मुक्त हो जाते हैं। इस धर्म में अशुभ को मिथ्या (unreal) न कहकर वास्तविक (real) माना गया है। यह धर्म निराशावादी नहीं कहा जा सकता। यह अशुभ से पूर्ण मुक्ति की संभावना में विश्वास रखता है। अशुभ के परित्याग एवं शुभ को अपनाकर व्यक्ति अपने को पूर्ण बना सकता है। इस प्रकार, ईसाई धर्म एक प्रकार के आशावाद (optimism) का संचार करता है।

अशुभ की व्यापकता के प्रश्न पर ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म में अन्तर हो जाता है। ईसाई धर्म विश्व में अशुभ को सर्वत्र

विद्यमान मानता है; किन्तु इस्लाम के अनुसार, अशुभ सर्वत्र नहीं है। अशुभ केवल गैर—मुसलमानों के मध्य पाया जाता है। इस्लाम के अनुसार, “अशुभ का अर्थ नम्रता का अभाव है।” व्यक्ति इस्लाम धर्म को अपनाकर अशुभ से छुटकारा पा सकता है।

अशुभ के स्वरूप को लेकर ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म में स्पष्ट अन्तर दीख पड़ता है। ईसाई धर्म में अशुभ को वास्तविक (real) माना गया है। इसके विपरीत, हिन्दू धर्म अशुभ को मिथ्या (unreal), भ्रम या माया मानता है। अशुभ मिथ्या एवं क्षणिक है। इसलिए इसके लिए न तो व्यक्ति को और न ईश्वर को उत्तरदायी कहा जा सकता है। हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म की भाँति ही अशुभ से मुक्ति की संभावना में विश्वास रखता है। ज्ञान, भक्ति और कर्म के द्वारा व्यक्ति अशुभ से अपने को मुक्त कर सकता है।

बौद्ध धर्म भी ईसाई धर्म की भाँति अशुभ को वास्तविकता (reality) के रूप में स्वीकार करता है। अशुभ को व्यापक रूप देने में बौद्ध धर्म सभी धर्मों से बढ़कर है। इस धर्म के अनुसार, विश्व के कण—कण में अशुभ व्याप्त है। “जीवन अशुभ है, मृत्यु अशुभ है, तृष्णा अशुभ है।” बौद्ध धर्म निरीश्वरवादी धर्म होने के कारण अशुभ के लिए ईश्वर को उत्तरदायी नहीं मानता। इसके अनुसार, व्यक्ति के पूर्व कर्म और संस्कार अशुभ को उत्पन्न करते

हैं। अपने पूर्व कर्मों एवं तृष्णाओं आदि को नष्ट करके व्यक्ति अशुभ से छुटकारा पा सकता है।

जैन धर्म भी ईसाईयों की भांति अशुभ को वास्तविक मानता है। यहाँ पुद्गल को अशुभ का कारण माना गया है। विश्व में शुभ और अशुभ की मात्रा समान है। पूर्व कर्मों को नष्ट करके नये कर्मों के प्रवाह को रोकने से ही व्यक्ति अशुभ से मुक्त हो सकता है। पुद्गल के आत्मा की ओर प्रवाहित होने से अशुभ की उत्पत्ति होती है। इसलिए अशुभ के विनाश के लिए पुद्गल को आत्मा की ओर प्रवाहित होने से रोकना अनिवार्य है।

पारसी धर्म (Zoroastrianism) भी ईसाई धर्म की भांति अशुभ को वास्तविक मानता है। पारसी धर्म में दो परम सत्ताओं को स्वीकार किया गया है – अहुरामजदा और अहरिमन। अहुरामजदा शुभ का प्रतीक है और अहरिमन अशुभ का प्रतीक है। सभी प्रकार के अशुभों का कारण अहरिमन है। अहुरामजदा और अहरिमनि अर्थात् शुभ और अशुभ के बीच सतत् संघर्ष छिड़ा हुआ है। इस संघर्ष में शुभ की अन्तिम विजय अवश्यंभावी है। व्यक्ति अहुरामजदा के प्रति प्रेम, आदर, भक्ति एवं विश्वास के द्वारा अशुभ को समाप्त कर सकता है। इस प्रकार, पारसी धर्म और ईसाई धर्म दोनों ही अशुभ के विनाश की संभावना में विश्वास दिलाकर आशावाद का संचार करते हैं।

ईसाई धर्म की विशेषताएँ

ईसाई धर्म एकेश्वरवादी (monotheistic) धर्म है। यह आध्यात्मिक (spiritual) धर्म है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं —

1. ईश्वरीय राज्य की कल्पना (The kingdom of God)

ईसाई धर्म में एकेश्वरवाद का समर्थन किया गया है। इस धर्म के प्रवर्तक ईसा मसीह ने अपने को कभी भी ईश्वर के तुल्य नहीं बतलाया। उन्होंने सदैव अपने को ईश्वर का पुत्र (The son of God) और ईश्वर को अपना पिता (The God as Father) घोषित किया है। पिता के रूप में ईश्वर की प्राप्ति ही मानव-जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

ईसा मसीह ने ईश्वरीय राज्य (The Kingdom of God) की स्थापना पर अत्यधिक जोर दिया। वे पृथ्वी पर आध्यात्मिक साम्राज्य कायम करने के पक्ष में थे। ईश्वरीय राज्य कोई बाह्य वस्तु नहीं है; यह तो व्यक्ति के अन्तःकरण में स्थित है। ("The kingdom of God which intended to establish was within all") ईसा मसीह के अनुसार, इस ईश्वरीय राज्य में सरल, उदार एवं नम्र स्वभाव के लोगों का प्रभुत्व रहेगा। यहाँ सभी मनुष्य एक ही ईश्वर की सन्तान होने के कारण विश्व-बंधुत्व की भावना से

परस्पर सम्बद्ध रहेंगे।⁴ ईश्वरीय राज्य पृथ्वी पर एक अजीब क्रान्ति ला देगा और पृथ्वी का कायाकल्प हो जायगा।

ईश्वरीय राज्य (The Kingdom of God) की व्याख्या ईसा मसीह के पाँच धर्म आदेश (five commandments) में पायी जाती है। ये धर्म-आदेश निम्नलिखित हैं –

- (1) प्रथम आदेश के अनुसार, सभी लोगों को शान्तिपूर्वक ढंग से जीवन व्यतीत करना चाहिए। हमें किसी के प्रति क्रोध या शत्रुता के भाव नहीं रखने चाहिए। अपने प्रति दूसरों के क्रोध को अकारण नहीं मानना चाहिए।⁵ इस प्रकार, क्रोध एवं शत्रुता के भाव का परित्याग यहाँ आवश्यक माना गया है।
- (2) दूसरे आदेश में व्यक्ति को व्यभिचार (adultery) एवं कुत्सित भावनाओं से दूर रहने का उपदेश दिया गया है। ईसा ने केवल शारीरिक स्तर पर ही व्यभिचार को अवांछनीय नहीं बतलाया है, बल्कि हृदय में भी इसे किसी प्रकार का स्थान न देने का उपदेश दिया है। किसी स्त्री के प्रति बुरी निगाह रखना भी व्यभिचार कहा जा सकता है। ("Whosoever looked on a woman to lust after her had committed adultery with her in his heart") ईसा मसीह का कहना है कि व्यभिचार की भावना तभी उत्पन्न होती है जब स्त्री और पुरुष

एक-दूसरे को इच्छा-तृप्ति का साधन मान लेते हैं। व्यक्ति को दूषित वासनाओं से दूर रहना चाहिए। इस आदेश में मानव की कामवासना से उत्पन्न बुराईयों को दूर करने का प्रयास किया गया है।⁶

- (3) तृतीय आदेश में कहा गया है कि व्यक्ति को सदैव ईश्वरीय इच्छा के सम्मुख आत्मसमर्पण करना चाहिये। (One should always submit to the will of God)
- (4) चतुर्थ आदेश में क्षमाशीलता एवं प्रेम पर जोर दिया गया है। यहाँ "आँख के लिए आँख और दाँत के लिए दाँत सिद्धान्त का पूर्ण विरोध किया गया है"। शत्रुओं के प्रति प्रतिकार या बदला लेने की बात को अनुचित बतलाया गया है। बुराई से बुराई का और हिंसा से हिंसा का सामना नहीं करना चाहिए। बुराई का बदला भलाई से और हिंसा का बदला अहिंसा एवं क्षमा से चुकाना चाहिए। केवल अपने शुभचिन्तकों के प्रति ही नहीं बल्कि शत्रुओं के प्रति भी क्षमाशीलता एवं प्रेम प्रदर्शित करना आवश्यक है। शैलोपदेश (Sermon on the Mount) में स्पष्ट कहा गया है – "अपने शत्रुओं को प्यार करो। जो तुम्हें दुःख पहुँचाये उन्हें आशीष दो और जो तुमसे घृणा करे उनकी भलाई करो।" यह आदेश अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट है।

कुछ आलोचक क्षमाशीलता एवं अहिंसा पर अत्यधिक जोर देने के कारण ईसाई धर्म को निर्बलता का सूचक बतलाते हैं। आलोचकों के अनुसार, वर्तमान युग में अहिंसा एवं क्षमा में बुराई का सामना करने की बात सर्वथा अव्यवहारिक है। किन्तु यह आक्षेप निराधार है। महात्मा गाँधी ने सत्य, अहिंसा, प्रेम एवं क्षमाशीलता को इस युग में प्रभावकारी, व्यावहारिक एवं सफल प्रमाणित किया है। अहिंसा एवं क्षमाशीलता कभी भी दुर्बलता एवं कायरता के प्रतीक नहीं कहे जा सकते। इनका सफल प्रयोग हिम्मती एवं शक्तिशाली मनुष्य ही कर सकता है।

- (5) पाँचवाँ आदेश सबसे प्रमुख कहा जा सकता है। व्यक्ति को अपने पिता (ईश्वर)—तुल्य ही पूर्ण (perfect) बनने का प्रयास करना चाहिए। ईश्वर सूर्य का प्रकाश अच्छे और बुरे सभी लोगों पर डालता है तथा न्यायी और अन्यायी दोनों पर समान दृष्टि करता है। इसलिए व्यक्ति को भी ईश्वर की भाँति ही पूर्ण बनने की सतत् चेष्टा करनी चाहिये। ("He Maketh his sun to rise on the evil and the good and sendth rain on the just and the unjust. Ye therefore should be perfect, as your Heavenly Father is perfect".) जिस प्रकार ईश्वर व्यक्तियों में भेद-भाव नहीं लाता, उसी प्रकार मनुष्य को भी मानव-मानव के बीच किसी प्रकार का भेद-भाव या अन्तर

नहीं लाना चाहिए।⁷ किसी व्यक्ति को जाति, धर्म, राष्ट्रीयता, धन, वर्ण आदि के आधार पर तुच्छ बतलाना ईसाई धर्म के विरुद्ध है। यहाँ ईसाई धर्म का उदार दृष्टिकोण स्पष्ट दीख पड़ता है। ईश्वर के समान पूर्ण बनने के लिए व्यक्ति को अपने अन्दर महान् ईश्वरीय गुणों को विकसित करना चाहिये।

उक्त पाँचों धार्मिक आदेश पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य (the kingdom of God) स्थापित करने में सहायक सिद्ध होते हैं। यदि इन आदेशों का पूर्ण पालन किया जाय तो पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य आ सकता है। ईसाई धर्म का 'ईश्वरीय राज्य' हिन्दुओं के 'राम राज्य' से मिलता-जुलता है। दोनों ही धर्म पृथ्वी को स्वर्ग बनाने की कल्पना करते हैं।

ईसाई धर्म उच्च कोटि की नैतिकता का आदेश प्रस्तुत करता है। सभी मनुष्य एक ही पिता अर्थात् ईश्वर की सन्तान होने के कारण परस्पर भाई-भाई हैं। इन्हें आपस में मिलजुलकर शान्तिपूर्वक जीवन बिताना चाहिए। सत्य, अहिंसा, प्रेम, दया, क्षमाशीलता, सहानुभूति, कष्ट-सहिष्णुता आदि महान् गुणों को जीवन में उतारने पर अत्यधिक जोर दिया गया है। "यदि कोई तुम्हारे दायें गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम अपना बायाँ गाल भी उसकी ओर फेर दो।" (I say unto you resist not him that is evil;

but whosoever smiteth thee on the right cheek turn to him the other also.") ईसा मसीह की यह उक्ति प्रतिकार की भावना का खंडन करके 'आदर्श बदले' का सिद्धान्त स्थापित करती है। महात्मा गाँधी ईसा के इस आदेश का आजीवन पालन करते रहे। ईसा ने अपने अनुयायियों को यह उपदेश भी दिया – "Be beggars, be ready without resisting evil to accept persecution, suffering and death" इस प्रकार ईसाई धर्म में नैतिकता को उच्च स्थान दिया गया है। इसीलिए इसे 'नैतिक धर्म' या 'आचार प्रधान धर्म' भी कहा गया है। यहाँ बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म की भांति नैतिकता तथा मूल्यों पर अत्यधिक जोर दिया गया है।

ईसाई धर्म हृदय की शुद्धता पर विशेष जोर देता है। बाह्य धार्मिक आडम्बरों की यहाँ निन्दा की गयी है। इस धर्म में शुद्ध हृदय से की गयी आराधना सर्वोत्तम मानी गयी है। व्यक्ति को शरीर की शुद्धि से अधिक हृदय की पवित्रता एवं निर्मलता पर ध्यान देना चाहिये। (God only sees the heart and therefore external purification of the body have no significance.) ईसा मसीह ने धर्म के नाम पर फैले अन्धविश्वास, रीति-रिवाज, रूढ़ि-वादिता एवं बाह्य आडम्बरों का घोर विरोध किया। उन्होंने अपने धर्म में हृदय की पवित्रता, अन्तःकरण की शुद्धि, भ्रातृत्व-भावना आदि के आधार पर ईश्वरीय राज्य की स्थापना पर जोर दिया।⁸ उपवास, तपस्या आदि कठोर व्रतों द्वारा शरीर को कष्ट देने की बात का

उन्होंने सदैव विरोध किया। ईसाई धर्म हृदय की पवित्रता पर आधारित एक मानववादी धर्म (the religion of humanity) है। मानव की सेवा ही सच्ची आराधना है।

ईसाई धर्म धन-संग्रह को ईश्वर के निकट पहुँचने में बाधक मानता है। धन एवं अधिकार-लिप्सा से व्यक्ति को सच्चा आनन्द नहीं मिल सकता। आत्मा की कीमत पर विश्व को खरीदना मूर्खतापूर्ण कार्य है। भौतिकवाद के पीछे दौड़ने से मानव का आध्यात्मिक जीवन उन्नत नहीं बन सकता। ईसाई धर्म की यह शिक्षा हिन्दू धर्म के उपदेश से मिलती-जुलती है। हिन्दू धर्म में भी धन-संग्रह को धार्मिक प्रगति के मार्ग में बाधक माना गया है और शरीर की अपेक्षा आत्मा के विकास पर अधिक जोर दिया गया है।

ईसाई धर्म में पर-निन्दा को अधर्म की कोटि में रखा गया है। दूसरों के दोषों को देखना या दूसरे की निन्दा करना इस धर्म में वर्जित माना गया है। ईसा मसीह के अनुसार, कोई भी व्यक्ति शत-प्रतिशत निर्दोष नहीं कहा जा सकता। इस स्थिति में दूसरों की निन्दा करना सर्वथा अनुचित है। दूसरों के दोषों को देखने की अपेक्षा अपने दोषों पर दृष्टि डालना ही श्रेयस्कर माना गया है। स्वयं दोषी व्यक्ति दूसरों के दोषों को देखने में समर्थ

नहीं हो सकता। ("With dirt in one's eye one cannot see the dirt in another's eye and that the blind cannot lead the blind .")

ईसाई धर्म का ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण (personal) है। यह भक्तों की प्रार्थना पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करता है। यदि कोई भी पापी ईश्वर के सम्मुख अपने पापों को स्वीकार पर प्रायश्चित्त करता है, तो उसे ईश्वर सहज ही क्षमा कर देता है। वह सभी प्राणियों को एक दृष्टि से देखता है। यह ईश्वर विश्वव्यापी होते हुए भी विश्वातीत (transcedent) है। यह धार्मिक भावना को सन्तुष्ट करने में समर्थ है। प्रो. फिलण्ट (Prof. Flint) ने ईसाई धर्म को सर्वश्रेष्ठ ईश्वरवादी धर्म बतलाया है।

ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म दोनों ही ईश्वरवादी धर्म है। दोनों ही धर्मों के अनुसार, ईश्वर विश्व का रचयिता माना गया है। एक ही ईश्वर (one God) में दोनों धर्मों का विश्वास है। इसलिए उन्हें एकेश्वरवादी धर्म (monotheistic) कहा जाता है। दोनों ही धर्मों में मूल्यों (values) पर विशेष जोर दिया गया है। दोनों ही धर्मों में उच्च कोटि की नैतिकता पाते हैं। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्तेय आदि को दोनों ही धर्मों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस प्रकार, ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म में कई महत्त्वपूर्ण समानता पाते हैं।

उपर्युक्त समानताओं के बावजूद दोनों धर्मों में कई अन्तर भी हैं। दोनों में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं—

- (1) ईसाई धर्म व्यक्तिवादी धर्म है। यह ईसा मसीह की देन है। इसके विपरीत, हिन्दू धर्म व्यक्तिवादी नहीं कहा जा सकता। यह किसी व्यक्ति-विशेष की देन नहीं है। यह तो अनेक ऋषि-मुनियों एवं विचारकों के अथक परिश्रम एवं चिन्तन का परिणाम है। इसलिए इसे 'सनातन धर्म' भी कहते हैं। हिन्दू धर्म असंख्य विचारकों का प्रतिनिधित्व करता है।
- (2) ईसाई धर्म में ईश्वर के साथ-साथ विश्व और मानव को भी वास्वतिक माना गया है। किन्तु हिन्दू धर्म में ईश्वर को ही परम सत्ता माना गया है।
- (3) ईसाई धर्म में मानव और ईश्वर के बीच एक प्रकार की खाई (gap) पायी जाती है। मानव कभी भी ईश्वर नहीं बन सकता। इसके विपरीत, हिन्दू धर्म मानव और ईश्वर के एकाकार की सम्भावना में पूर्ण विश्वास रखता है। मानव में अपने को ईश्वर के समान पूर्ण बनने की क्षमता बीजरूप में निहित है। अद्वैत-वेदान्त धर्म में आत्मा और ब्रह्म दोनों को एक ही माना गया है।
- (4) हिन्दू धर्म के अनुसार, व्यक्ति अपने निजी प्रयत्न के द्वारा मुक्ति (liberation) पा सकता है। किन्तु ईसाई धर्म के

अनुसार, व्यक्ति अपने प्रयास के बल पर ही मुक्ति नहीं पा सकता। इसके लिए उसे ईश्वर की कृपा पर आश्रित रहना पड़ता है।

- (5) ईसाई धर्म में अशुभ (evil) को एक वास्तविक सत्ता माना गया है। इसे मिथ्या या असत्य कहकर अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत, हिन्दू धर्म अशुभ को मिथ्या या असत्य मानता है। ज्ञानोदय होने पर अशुभ का अस्तित्व नष्ट हो जाता है।

ईसाई धर्म और बौद्ध धर्म (Christianity and Buddhism)
—दोनों धर्मों में कई बातों में समानता और अन्तर पाये जाते हैं—

समानताएँ

- (1) दोनों ही धर्मों के विकास का क्रम समान दीख पड़ता है। जिस प्रकार बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म से विकसित हुआ, उसी प्रकार ईसाई धर्म भी यहूदी धर्म से विकसित माना जाता है।
- (2) दोनों ही धर्म व्यक्ति-विशेष की देन है। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध है और ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा मसीह हैं। इस प्रकार, दोनों ही धर्म व्यक्तिवादी कहे जा सकते हैं।
- (3) दोनों ही धर्म एकेश्वरवादी कहे जा सकते हैं। ईसाई धर्म के अनुसार, ईश्वर एक हैं और इसी ईश्वर की पूजा की जाती

है। ईसा मसीह को ईश्वर के पुत्र के रूप में आराधना का विषय माना जाता है। ईसाइयों के अनुसार, ईश्वर एक है। बौद्ध धर्म देखने में निरीश्वरवादी (atheistic) धर्म है, किन्तु इसमें स्वयं महात्मा बुद्ध को ही भगवान् मान लिया गया है और इनकी पूजा की जाती है। इस प्रकार, बौद्ध धर्म भी एकेश्वरवादी (monotheistic) धर्म कहा जा सकता है।

- (4) दोनों ही धर्म बाह्य आडम्बर, रीति-रिवाज, अंधविश्वास एवं परम्परागत रूढ़िवादिता का घोर विरोध करते हैं। बौद्ध धर्म ने हिन्दू धर्म में पायी जाने वाले प्रारम्भिक प्रथाओं जैसे— बलि-प्रथा, जाति-भेद आदि का खण्डन किया है। इसी प्रकार, ईसाई धर्म भी ईश्वर की प्राप्ति के लिए बाह्य आडम्बरों को अनावश्यक बतलाता है। व्यक्ति पवित्र हृदय से ही ईश्वर को प्रसन्न कर सकता है। हृदय की पवित्रता दोनों ही धर्मों के लिए एक आवश्यक शर्त है।
- (5) दोनों ही धर्म सामूहिक मोक्ष (collective liberation) में विश्वास रखते हैं। मोक्ष के दो प्रकार के होते हैं—(क) व्यक्तिगत मोक्ष (individual) और (ख) सामूहिक (collective) या सार्वभौम (universal) मोक्ष। बुद्ध के सम्मुख सम्पूर्ण विश्व की मुक्ति की समस्या थी। सभी प्राणियों को दुःखों से मुक्त कराना ही इसका मुख्य उद्देश्य था। इसी प्रकार, ईसाई धर्म भी

‘ईश्वरीय राज्य’ (Kingdom of God) का नारा बुलन्द करता है। इस राज्य में सभी प्राणियों के कल्याण का ध्यान रखा जाता है। सम्पूर्ण विश्व की मुक्ति से ही पृथ्वी पर ‘ईश्वरीय राज्य’ स्थापित हो सकता है। इस प्रकार, दोनों ही धर्म मानते हैं कि व्यक्ति को केवल अपनी ही मुक्ति से सन्तुष्ट होकर नहीं बैठता चाहिए, बल्कि उसे सभी प्राणियों की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

- (6) दोनों ही धर्म मानव-मानव में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं मानते। सभी मनुष्य समान हैं। जाति, वंश, रंग, धन आदि के आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति में अन्तर लाना सर्वथा अनुचित है। महात्मा बुद्ध ने सभी प्राणियों की सेवा जीवन का चरम लक्ष्य बतलाया है। इसी प्रकार, ईसा मसीह ने सभी मनुष्यों को एक ही पिता (ईश्वर) की सन्तान के रूप में समान घोषित किया है। हिन्दू धर्म भी मानव-मात्र की समानता में विश्वास करता है। जन्म, जाति या वंश के आधार पर किसी व्यक्ति को ऊँच या नीच नहीं मानता। इनके अनुसार, कोई भी व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार ही ऊँच या नीच कहा जा सकता है।
- (7) दोनों ही धर्मों में उच्च कोटि की नैतिकता पायी जाती है। दोनों ही ने तत्त्व शास्त्र (Ontology) की अपेक्षा आचार शास्त्र

(Ethics) को अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया है। तत्त्वशास्त्रीय प्रश्नों के विषय में बुद्ध सदैव मौन रहे। उनका विचार था कि मानव का सर्वप्रथम कर्तव्य है, विश्व को दुःखों से मुक्त कराना। इसलिए वे तत्त्व शास्त्रीय विषयों पर वाद-विवाद में कोई दिलचस्पी नहीं रखते थे। उनके लिए आचार शास्त्र अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था। उन्होंने सत्य, अहिंसा, प्रेम, सहानुभूति, दया आदि महान् गुणों के समुचित विकास पर विशेष जोर दिया।

ईसाई धर्म भी तत्त्व शास्त्र (Ontology or Metaphysics) पर उतना जोर नहीं देता जितना नीतिशास्त्र या आचार शास्त्र (Ethics) पर। पड़ोसी की मदद करना, बुराई का बदला भलाई से देना, सभी के प्रति प्रेम, सहानुभूति एवं दया का भाव प्रदर्शित करना इत्यादि दोनों ही धर्मों के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। प्रतिशोध की भावना का विरोध दोनों ही धर्मों में किया गया है। ईसा मसीह का यह कथन कितना महान् है कि 'यदि कोई व्यक्ति एक गाल पर थप्पड़ लगावे, तो दूसरा गाल भी उसके सम्मुख बढ़ा देना चाहिए'। शैलो प्रदेश (Sermon on the Mount) में वर्णित शिक्षाओं और बौद्ध धर्म के उपदेशों में काफी समानता पायी जाती है।

उपर्युक्त समानताओं के बावजूद दोनों धर्मों में अग्रलिखित अन्तर भी पाये जाते हैं—

- (1) ईसाई धर्म के अनुसार, व्यक्ति अपने प्रयास से नहीं, बल्कि ईसा मसीह की कृपा से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ईसा मसीह के शब्दों में, "Come unto me all ye that labour and are heavy laden and I will give you rest" पुनः, उनके ही शब्दों में, ईसा के उपर्युक्त कथन इस बात के प्रमाण हैं कि ईसा मसीह की दया के बिना मोक्ष प्राप्ति असम्भव है। इसके विपरीत, बौद्ध धर्म व्यक्ति के निजी प्रयास को ही मोक्ष या निर्वाण के लिए पर्याप्त मानता है। व्यक्ति अपने ही कर्म के आधार पर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। उसके लिए उसे किसी अन्य व्यक्ति या सत्ता पर आश्रित होने की आवश्यकता नहीं पड़ती।
- (2) बौद्ध धर्म में इच्छाओं के दमन पर जोर दिया गया है। हमारी इच्छाएँ दुःख के कारण हैं। इसलिए दुःखों से मुक्ति के लिए इच्छाओं का दमन आवश्यक बतलाया गया है। भगवान् बुद्ध के अनुसार, इच्छाएँ अनन्त हैं। सभी इच्छाओं की पूर्ति असम्भव है। इच्छा की पूर्ति न होने से दुःख होता है। अतः इच्छाओं के नियन्त्रण से मुक्त होना परमावश्यक है। उन्होंने इच्छाओं के दमन के समुचित मार्ग भी बतलाये

हैं। इसके विपरीत, ईसाई धर्म सभी इच्छाओं को अशुभ एवं अवांछनीय नहीं मानता। हमें केवल तुच्छ इच्छाओं को ही त्यागना चाहिए। गैलवे (Galloway) ने ईसाई धर्म के विश्व-सम्बन्धी विचार को बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत बतलाया है।⁹

- (3) बौद्ध धर्म ने विश्व को क्षणभंगूर एवं अशुभ का साम्राज्य बतलाकर इसकी निन्दा की है। विश्व में सर्वत्र दुःख-ही-दुःख है। ऐसी स्थिति में विश्व की घटना में दिलचस्पी रखना आवश्यक नहीं है। इस विश्व से दूर रहकर ही व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत, ईसाई धर्म के अनुसार, विश्व सत्य है। विश्व में केवल दुःख-ही-दुःख या अशुभ-ही-अशीभ नहीं है। बल्कि सुख और शुभ भी है। इसलिए विश्व से दूर भागने की कोई आवश्यकता नहीं है। ईसा मसीह ने मनुष्य को विश्व से भागने की नहीं, बल्कि सांसारिकता में अपने को लिप्त करने से बचाने की सलाह दी है।¹⁰

ये अन्तर सभी विचारक नहीं मानते। अनेक विचारकों का मत है कि ईसाई धर्म की भाँति बौद्ध धर्म भी संसार से भागने की कभी सलाह नहीं देता। स्वयं बुद्ध का संसार से निर्वाण प्राप्त करना और अस्सी वर्ष की उम्र तक अनवरत

रूप से कर्मशील रहना निश्चय ही पलायनवाद (escapism) का खण्डन करने जैसा है। बुद्ध ने कभी भी दुःखों से भयभीत होकर विश्व छोड़ने की सलाह नहीं दी। विश्व की समस्याओं का समाधान ढूँढने के लिए सतत कियाशीलता को उन्होंने वांछनीय बतलाया।

- (4) कभी-कभी बौद्ध धर्म को निराशावादी (pessimistic) और ईसाई धर्म को आशावादी (optimistic) कहा जाता है। बुद्ध ने विश्व में स्थित अशुभों एवं दुःखों पर अत्यधिक प्रकाश डाला है। दुःख एक नग्न सत्य है। इसकी सत्ता में सन्देह की कोई गुंजायश नहीं है। बुद्ध ने सम्पूर्ण जीवन को दुःखमय बतलाया है। इसी आधार पर बौद्ध धर्म को निराशावादी कहा जाता है। इसके विपरीत, ईसाई धर्म का कहना है कि पाप की प्रवृत्ति मनुष्य के स्वभाव में ही निहित है। किन्तु इस धर्म की यह भी घोषणा है कि ईश्वर की दया से व्यक्ति का पाप सहज ही धुल सकता है। यहाँ आशावाद की झलक दीख पड़ती है। इसी कारण ईसाई धर्म को आशावादी कहा जाता है।

उपर्युक्त अन्तर कोई अन्तर नहीं है। बौद्ध धर्म को निराशावादी नहीं कहा जा सकता। इसका आरम्भ भले ही निराशा से होता है, किन्तु इसका अन्त आशावाद में होता

है। महात्मा बुद्ध केवल दुःखों की विशद् व्याख्या देकर ही नहीं बैठ जाते, बल्कि दुःखों से मुक्ति के लिए 'अष्टांग-मार्ग' (the eightfold path) अपनाने की सलाह भी देते हैं। इस मार्ग पर चलकर व्यक्ति निर्माण प्राप्त कर सकता है। अतः बौद्ध धर्म ईसाई धर्म की भाँति ही आशावादी है।

- (5) कुछ लोग ईसाईधर्म को ईश्वरवादी (theistic) और बौद्ध धर्म को निरीश्वरवादी (atheistic) धर्म बतालाते हैं। ईसाई धर्म में ईश्वर को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है; किन्तु बौद्ध धर्म में ईश्वर का सर्वथा अभाव है। बुद्ध ईश्वर के विषय में बतलाने की अनिच्छा बराबर प्रकट करते रहे। इसी आधार पर बौद्ध धर्म को अनीश्वरवादी कहा गया है।

उपर्युक्त अन्तर का कोई सबल आधार नहीं है। यह सत्य है कि स्वयं बुद्ध ने कभी भी ईश्वर को स्वीकार नहीं किया, किन्तु उनकी मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों ने उन्हें ही ईश्वर का अवतार समझकर उनकी आराधना आरम्भ कर दी थी। इस प्रकार, इस धर्म में भी ईश्वर का विचार आ ही गया। अतः बौद्ध धर्म भी ईसाई धर्म की भाँति ही ईश्वरवादी धर्म सिद्ध होता है।

ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म (Christianity and Islam) दोनों धर्मों में निम्नलिखित समानताएँ हैं—

- (1) दोनों ही धर्म व्यक्तिवादी धर्म हैं। ईसाई धर्म ईसा मसीह की देन है और इस्लाम धर्म मुहम्मद साहब की देन है। दोनों ही धर्म ईश्वर के दूत के आदेशों पर आधारित है।
- (2) दोनों ही धर्म एकेश्वरवाद (monotheism) के सुन्दर उदाहरण हैं। इनके अनुसार, ईश्वर एक है और व्यक्तित्वपूर्ण (personal) है। दोनों ही धर्मों के अनुसार, ईश्वर अपने भक्तों की माँगों पर सहानुभूति पूर्वक विचार करता है।
- (3) दोनों ही धर्म ईश्वर के अतिरिक्त आत्मा एवं विश्व को भी सत्य मानते हैं। ईसा मसीह ने ईश्वर और मानव के बीच सम्बन्ध स्थापित करके का प्रयत्न किया है। मुहम्मद साहब ने भी ईश्वर और विश्व के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है।

उपर्युक्त समानताओं के बावजूद दोनों धर्मों में निम्नलिखित अन्तर हैं—

- (1) ईसाई धर्म ईश्वर और मानव के बीच एक प्रकार की खाई (gap) स्वीकार करता है। किन्तु इस्लाम धर्म दोनों के बीच कोई खाई स्वीकार नहीं करता। ईसाई धर्म के अनुसार, व्यक्ति कभी भी ईश्वरत्व को नहीं प्राप्त कर सकता। इसके विपरीत, इस्लाम धर्म व्यक्ति और अल्लाह में घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हुए व्यक्ति को ईश्वरत्व प्राप्त करने में समर्थ बतलाता

है। यहाँ इस्लाम धर्म, हिन्दू धर्म के अधिक निकट है। हिन्दू धर्म भी व्यक्ति के निजी प्रयास को ईश्वरत्व की प्राप्ति में समर्थ मानता है।

- (2) दोनों ही धर्म ईश्वर को विश्व का रचयिता मानते हैं; किन्तु इनके विश्व सम्बन्धी विचार परस्पर भिन्न हैं। ईसाई धर्म विश्व को अशुभ (evil) के अधीन मानता है। अशुभ एक वास्वविकता (reality) के रूप में ईसाई धर्म में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके विपरीत, इस्लाम धर्म विश्व को ईश्वर की रचना होने के कारण मूलतः शुभ मानता है।
- (3) इस्लाम धर्म के अनुसार, मनुष्य स्वयं उसका भाग्य—विधाता है। चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे ईश्वर या अल्लाह पर निर्भर रहने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके विपरीत, ईसाई धर्म के अनुसार, ईश्वर की कृपा से ही व्यक्ति परम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ईसाई धर्म में व्यक्ति स्वयं अपने लक्ष्य की प्राप्ति में असमर्थ है।
- (4) ईश्वर के गुणों की प्रधानता को लेकर भी इस्लाम धर्म और ईसाई धर्म में अन्तर आ जाता है। इस्लाम के अनुसार, ईश्वर में शक्ति की प्रधानता है। उसका सर्वशाक्तिशाली (all-powerful) होना ही उसका प्रमुख लक्षण है। वह पापियों को सजा देने में पूर्ण कठोरता का परिचय देता है। ठीक

इसके विपरीत, ईसाई धर्म का ईश्वर क्षमाशील एवं दयावान है। यह सर्वशक्तिशाली तो है ही, इसमें क्षमा, दया आदि शुभ कर्मों को स्वीकार कर मनुष्य सहज ही क्षमा के पात्र बन जाते हैं। इस प्रकार, इस्लाम का ईश्वर शक्ति का रूप है, तो ईसाई धर्म का ईश्वर क्षमा, दया-शीलता एवं प्रेम का प्रतीक है।

- (5) इस्लाम धर्म में धार्मिक क्रियाओं पर विशेष जोर दिया जाता है। हज करने के लिए मक्का जाना, उपवास करना, दिन में पाँच बार नमाज पढ़ना, खैरात बांटना इत्यादि इस्लाम के आधारभूत तत्त्व हैं। इसके विपरीत, ईसाई धर्म में बाह्य धार्मिक क्रियाओं पर उतना जोर नहीं दिया जाता है। यहाँ हृदय की शुद्धि एवं पवित्रता पर विशेष जोर दिया जाता है। इस प्रकार, इस्लाम धर्म बाह्य क्रियाकलाप को धर्म में विशेष महत्त्व देता है; किन्तु ईसाई धर्म अन्तःकरण की शुद्धि को धर्म का आधार मानता है। संक्षेप में, इस्लाम धर्म नैतिकता के बाह्य पक्ष पर जोर देता है तो ईसाई धर्म इसके आन्तरिक पक्ष को प्रमुख मानता है।

ईसाई धर्म और यहूदी धर्म (Christianity and Judaism)

ईसाई धर्म का स्रोत यहूदी धर्म को माना जाता है। यहूदी धर्म के कुछ तत्त्व ऐसे हैं, जिनके आधार पर ही ईसाई धर्म की

इमारत खड़ी है। यहूदियों के एकेश्वरवाद (monotheism), नैतिक विचार एवं मोक्ष-सम्बन्धी विचार ईसाई धर्म के आवश्यक तत्त्व बन गये हैं। यहूदी धर्म का कथन है— "And thou shall love, the Lord, the God with all thy heart and with all thy soul and with all thy might." यह कथन ईसाई धर्म का केन्द्र-बिन्दु कहा जा सकता है।

ईसाई धर्म और यहूदी धर्म की शिक्षाओं में भी समानता दीख पड़ती है। यहूदी धर्म की शिक्षाएँ 'पुरातन सुसमाचार' (Old Testament) में संग्रहित हैं। पुरातन सुसमाचार का गहरा प्रभाव ईसाई धर्म के शैलोपदेश (The Sermon on the Mount) पर दीख पड़ता है। ईसा के 'पुरातन सुसमाचार' (Old Testament) के उपदेशों को ही संशोधित एवं परिमार्जित रूप कहा जा सकता है।

ईसाई धर्म और यहूदी धर्म के बीच वही सम्बन्ध है, जो बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म के बीच है। ईसाई धर्म और बौद्ध धर्म क्रमशः यहूदी और हिन्दू धर्म से उत्पन्न एवं विकसित हुए हैं। ईसाई धर्म यहूदी धर्म की प्रतिक्रिया का परिणाम है। इस प्रसंग में स्मरणीय बात यह है कि बौद्ध धर्म ने हिन्दू धर्म के उद्गम-ग्रन्थ वेदों का खण्डन किया; किन्तु ईसाई धर्म ने पुरातन सुसमाचार का खण्डन न करके उसका संशोधन एवं परिमार्जन किया।

ईसाई धर्म और यहूदी धर्म के मध्य उपर्युक्त समानताओं के बावजूद दोनों में कुछ अन्तर भी हैं। ईश्वर के स्वरूप को लेकर दोनों में स्पष्ट अन्तर दीख पड़ता है। यहूदी धर्म के अनुसार, ईश्वर विश्व का शासक, सर्वशक्तिशाली एवं न्यायप्रिय है। इस धर्म में ईश्वर की दयालुता, क्षमाशीलता आदि कोमल गुणों पर प्रकाश नहीं डाला गया है। किन्तु ईसाई धर्म में ईश्वर को दयालु, क्षमाशील, प्रेममय एवं अन्य मृदुल गुणों से युक्त कहा गया है। कहा गया है कि मानव पुत्र स्वर्ग से उतरा है। उसके सिवा कोई स्वर्ग नहीं पहुँचा है। जिस तरह मूसा ने मरुभूमि में साँप को ऊपर उठाया था, उसी तरह मानव पुत्र को भी ऊपर उठाया जाना है। उसमें जो विश्वास करेगा वह अनन्त जीवन प्राप्त करेगा।" इस प्रकार ईसा मसीह ने अपने आध्यात्मिक जीवन की ओर निर्देश दिया है, क्योंकि उनका स्रोत उच्चतम ईश्वर है। वही समस्त आध्यात्मिक मूल्यों का आधार है और वे इस बात का भी संकेत देते रहे हैं कि वे मनुष्य के नैतिक मूल्यों को भी स्थापित करने आये हैं। महात्मा गाँधी और जवाहरलाल नेहरू ने भी इस बात की पुष्टि की है।

Reference

1. "Father! forgive them for they not know what they do." -Jesus
2. "Our societies are founded upon very rigorous ideas of property and possession. The poor and downtrodden have really no place

under the sun. Jesus expressed himself firmly on the sin of covetousness, which is the very basis of Christian morality."

3. "Natural evil is a punishment for moral evil."

4. "The true kingdom of God according to the Christian doctrine is the kingdom of the meek and the humble, the universal brotherhood of men as sons of one father."

-Glimpses of World Religions, (p. 170)

5. "Christian doctrine teaches us to live at peace with all men and not to justify our anger towards any one, nor should we consider another's anger against us as causeless -Glimpses of World Religions, (p. 171)

6. "As in the first commandment so here-Jesus says that adultery arises from the fact that women and men hold each other as the objects of their desire. Therefore one must eschew all that arouses lust. This commandment removes all the evils that flow from sexual desires of man." -Glimpses of World Religion, (p.172)

7. "God does not make any distinction between man and man but He showers his blessings upon all and therefore one should be like God. One must love all men and do good to all alike; one should not make distinction between man and men." -Glimpses of World Religions, (p.173)

8. "He established an entirely new idea of worship which is based on purity of heart and conscience and on human brotherhood and establishment of the kingdom of God upon earth". Glimpses of World Religions, (p.175)

9. "Christian attitude to the world is far truer and saner than that of Buddhism. Jesus did not fall into Buddha's error of condemning all desire as in itself evil."

-Galloway : The philosophy
of Religion, (p.145)

10. "Consequently his message was not to flee from the world, but to avoid being entangled and led captive by purely worldly interests."-Galloway.

अध्याय – 6
हिन्दू धर्म
(Hinduism)

हिन्दू धर्म (Hinduism) सभी धर्मों से अधिक पुरातन है। यह किसी व्यक्ति-विशेष की शिक्षाओं पर आधारित नहीं है। इसके प्रवर्तक का निर्धारण करना असंभव है। हर गुण के भारतीय ऋषि-मुनियों, विचारकों, सन्तों एवं साधकों की अमूल्य शिक्षाओं के संग्रह को ही 'हिन्दू धर्म' की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार यह धर्म इस्लाम, ईसाई, पारसी, यहूदी, बौद्ध आदि धर्मों से भिन्न है। इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मोहम्मद साहब हैं, ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा मसीह हैं और बौद्ध धर्म प्रवर्तक महात्मा बुद्ध हैं। इस प्रकार ये धर्म व्यक्तिवादी धर्म कहे जा सकते हैं, क्योंकि ये व्यक्ति-विशेष की देन हैं। इसके विपरीत, हिन्दू धर्म के निर्माण एवं विकास में असंख्य ऋषि-मुनियों एवं साधु-सन्तों का सक्रिय योग रहा है। किसी व्यक्ति-विशेष को इस धर्म का प्रवर्तक या पिता नहीं कहा जा सकता।" At a time when Buddhism was followed by a large section of the population in this country, Sankara re-established the authority of the Vedas and the vedanta religion which is commonly called Hinduism"

हिन्दू धर्म मुख्यतः भारतीयों का धर्म है। भारतीय संस्कृति अनेक अघातों एवं परिवर्तनों के बीच भी अपने स्थान पर अडिग रहती आयी है। विदेशियों के बारम्बार हमले इसके अस्तित्व को मिटाने में असमर्थ रहे। इस संस्कृति में इतनी शक्ति है कि इसने विदेशियों को भी अपने रंग में रँग दिया। डा. राधाकृष्णन् के शब्दों में, "जिन विभिन्न समुदायों ने हिन्दू धर्म को ग्रहण कर लिया था, वे अपने आसपास के समाज के स्तर तक उठ आये। उन्होंने हिन्दू धर्म की भावना की शिक्षा ली, इसके रंग में रँग गये और इसकी उन्नति में योग दिया।"¹ भारत पर मुगल तुर्क आदि के अनेक आक्रमण भी हिन्दू-संस्कृति का बाल भी बाँका न कर सके। अनेक विदेशियों ने इस संस्कृति के सम्मुख अपनी पराजय स्वीकार कर इसके दामन में शरण ली। अतः भारतीय संस्कृति अर्थात्, हिन्दू-संस्कृति अनेक संस्कृतियों के उदय और अन्त के बावजूद अपना अस्तित्व कायम रखने में पूर्णतया समर्थ है।

हिन्दूत्व किसी जातीय तथ्य पर आधारित नहीं कहा जा सकता। भारत में रहने वालों को साधारणतः 'हिन्दू' कहा जाता है। प्राचीनकाल में गंगा-सिन्धु के मैदान में रहने वाले को पारसियों ने 'सिन्धु' के नाम से पुकारा। बाद में इसी 'सिन्धु' शब्द से 'हिन्दू' शब्द का उदय हुआ। इस प्रकार, हिन्दू धर्म तो अति पुरातन है, किन्तु इसका 'हिन्दू' नामकरण आधुनिक है। यह बात

इस आधार पर भी सिद्ध होती है कि वेद-पुराणों में कहीं भी 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता।

यद्यपि 'हिन्दू-सभ्यता' का मूल वैदिक आर्यों के आध्यात्मिक जीवन में है और इसके मूल चिन्ह अभी तक कायम हैं; फिर भी इसने द्रविड़ तथा यहाँ के अन्य निवासियों के सामाजिक जीवन को इस प्रकार अपना लिया है कि आधुनिक हिन्दुत्व में से वैदिक और अवैदिक तत्त्वों को पृथक् करना असंभव हो गया है। हिन्दू धर्म में विभिन्न धर्मों के तत्त्व विद्यमान हैं। इसी धर्म ने बौद्ध और जैन धर्मों को उत्पन्न किया। विभिन्न तत्त्वों को आत्मसात् कर लेने की बेजोड़ क्षमता हिन्दू धर्म की अपनी विशेषता है।

हिन्दू धर्म का क्षेत्र केवल भारत तक ही सीमित नहीं है। प्राचीनकाल में चम्पा, कम्बोडिया, जावा, बाली आदि सुदूर प्रदेशों में भी इस धर्म का प्रचार हुआ। आज भी भारत से बाहर कई देशों में हिन्दू धर्मावलम्बी पाये जाते हैं। मोरिसस और नेपाल में अभी भी इसका ज्वलन्त उदाहरण मिलता है। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में, "ऐसा कोई कारण नहीं है जो हिन्दूत्व के पृथ्वी के दूरतम भागों तक फैलने में बाधक हो। भारत एक परम्परा, एक भावना, एक प्रकाश है। इसकी भौतिक और आत्मिक सीमाएँ एक

नहीं, पृथक्-पृथक् हैं।”² स्वामी विवेकानन्द की रचनाओं में भी इस बात की पुष्टि की गई है।

हिन्दू धर्म सहिष्णुता का धर्म है। यह किसी अन्य धर्म का विरोध नहीं करता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि कभी भी किसी मुसलमान, ईसाई या अन्य धर्मावलम्बी को जबरदस्ती हिन्दूत्व अपनाने को बाध्य नहीं किया गया। यह बात दूसरी है कि अन्य धर्मावलम्बियों ने हिन्दूओं को प्रलोभन देकर या बलपूर्वक अपना धर्म ग्रहण करवाया है। फिर भी, हिन्दू धर्म किसी धर्म का विरोध नहीं करता। यह सभी धर्मों को चरम लक्ष्य तक पहुँचाने का विविध मार्ग मानता है। यह इसके उदार दृष्टिकोण का सूचक है।

हिन्दू धर्म के आधार या स्रोत

विभिन्न धर्मों के अपने-अपने आधार होते हैं। इस्लाम धर्म का आधार ‘कुरान’ है। ईसाई धर्म का आधार ‘बाइबिल’ है। अन्य सभी धर्मों के भी कुछ-न-कुछ आधार अवश्य होते हैं। हिन्दू धर्म के भी कई प्रमुख आधार हैं। इनमें वेद, उपनिषद्, गीता, स्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत आदि उल्लेखनीय हैं।

वेद हिन्दू धर्म के सबसे प्रारंभिक एवं पवित्र ग्रन्थ हैं। सम्पूर्ण हिन्दू धर्म बीज-रूप में इन्हीं वेदों में विद्यमान है। वेद ईश्वरकृत माने जाते हैं। हिन्दुओं का पूर्ण विश्वास है कि इनमें

ईश्वरीय आदेश संग्रहित है। वेदों की संख्या चार है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इनमें ऋग्वेद धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। मैक्समूलर (Max Muller) ने इसे विश्व का सबसे प्राचीन धर्मग्रन्थ बतलाया है। इसमें विभिन्न प्राकृतिक वस्तुओं के रूप में ईश्वर की पूजा का वर्णन हुआ है।

वेद के शब्द सरल, महत्त्वपूर्ण और प्राचीन हैं। वे श्रद्धा और भक्ति से, विश्वास और निश्चय से भरे हुए हैं। उन ऋषियों की गंभीरता को हृदयंगम कर पाना भी कठिन है, जिनके होठों से सर्वप्रथम यह प्रार्थना निकली थी—“अवास्तविकता से हटाकर मुझे वास्तविकता की ओर ले चलो, अंधकार से हटाकर मुझे प्रकाश की ओर ले चलो; मृत्यु से हटाकर मुझे शाश्वत जीवन की ओर ले चलो।”³ वेदों में धर्म का सुव्यवस्थित विवरण तो नहीं मिलता, किन्तु इनमें आदशों की ओर संकेत और कुछ व्यवहारों का उल्लेख अवश्य पाया जाता है। हिन्दू शास्त्रों को कर्म मीमांसा और ब्रह्म मीमांसा में विभाजित बतलाया गया है। ‘द वेदान्त सूत्राज विथ श्रीभाष्य’ में बतलाया गया है—In keeping with the division of the revealed scripture of the Hindus into the karmakanda and the Jnana kanda, there are two systems of philosophic inquiry known as the karmamimamsa and the Brahma

mimamsa.कर्म मीमांसा का प्रतिनिधित्व ब्राह्मण ग्रन्थ करता है और ब्रह्म मीमांसा का उपनिषद प्रतिनिधित्व करता है।

उपनिषद् भी हिन्दू धर्म के मुख्य स्तम्भ हैं। इनमें आत्मा को ही परम तत्त्व माना गया है। यह आत्मा ईश्वर है। उपनिषदों का लक्ष्य तत्त्वशास्त्र की मीमांसा न करके मानव-जीवन की नैतिक एवं धार्मिक समस्याओं का हल ढूँढ़ना है। मृत्यु के बाद आत्मा की क्या गति होती है? आत्मा का स्वरूप क्या है? मानव-जीवन का चरम लक्ष्य क्या है? इन्हीं सारे प्रश्नों का समाधान उपनिषदों में खोजा जाता है। उपनिषद् काल में वैदिक काल की प्रचलित बलि-प्रथा का रूप बदल जाता है। यहाँ आत्मसमर्पण ही सबसे महान् बलिदान माना गया है। उपनिषद् का कहना है— धर्म जीवन के परम लक्ष्य की सिद्धि में सहायक है।⁴ हिन्दू धर्म के अधिकांश तत्त्व इन उपनिषदों में निहित हैं। यह परस्पर सहयोग और प्रोत्साहन से सिद्धि प्राप्त करने की सीख देता रहा है। इसकी नैतिकता वैदिक काल से विकसित है।

गीता को हिन्दू धर्म का तीसरा आधार माना गया है। हिन्दुओं के लिए गीता गौ माता के समान पवित्र है। यों उपनिषद को गौ माना गया है। श्रीकृष्ण को दूध दुहने वाला, अर्जुन को बछड़ा और श्रीमद्भगवद्गीता को अमृत रूप दूध कहा गया है। इसे डिवाइन सोंग भी कहा जाता है। भगवद्गीता में

किंकर्तव्यविमूढ अर्जून को भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा दिये गये अमूल्य उपदेश संग्रहित हैं। यहाँ आत्मपूर्णता को ही जीवन का चरम लक्ष्य बतलाया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर के रूप में चित्रित किये गये हैं। गीता शुभ और अशुभ (good and evil) अथवा सुर और असुर के बीच अनवरत रूप से होने वाले युद्ध की कहानी है।

इसमें दिखलाया गया है कि अन्तिम विजय शुभ की होती है और अशुभ का विनाश अनिवार्य है। इसमें आशावाद (optimism) का संकेत मिलता है। गीता की स्पष्ट घोषणा है कि जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की विजय होने की स्थिति आती है, तो ईश्वर मनुष्य का अवतार लेकर अधर्म एवं दुराचार का नाश करता है और सत्य एवं शुभ की स्थापना करता है। हिन्दूओं के लिए यह आश्वासन एक महत्त्वपूर्ण सम्बल है। आत्मपूर्णता के लिए गीता में तीन मार्ग बतलाये गये हैं—ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग और भक्ति मार्ग। व्यक्ति को अपनी क्षमता एवं प्रवृत्ति के अनुसार इनमें से किसी भी मार्ग को अपनाना चाहिए। पुराणों में भी इस बात की पुष्टि की गई है। इनकी संख्या अठारह है। इसमें परोपकार को ही पुण्य और दूसरे को पीड़ा पहुँचाने की क्रिया को ही पाप कहा गया है।

स्मृति को भी हिन्दू धर्म का आधार माना जाता है। स्मृति और धर्मशास्त्र व्यवहारतः पर्यायवाची ही हैं। स्मृति का शब्दार्थ उस वस्तु की ओर संकेत करता है, जो वेदों के अध्ययन में निष्णात ऋषियों को याद रह गयी थी। स्मृति का कोई भी नियम, जिसके लिए कोई वैदिक सूत्र ढूंढा जा सके, वेद की ही भाँति प्रामाणिक बन जाता है। यदि कहीं श्रुति और स्मृति में विरोध हो, तो वहाँ श्रुति को प्रामाणिक स्वीकार किया जाएगा।⁵ कुमारिल का कहना है—“क्योंकि ये स्मृतियाँ मानवीय रचयिताओं से निकली हैं और वेदों की भाँति शाश्वत नहीं हैं, इसलिए उन्हें स्वतः प्रमाण नहीं माना जा सकता।” फिर भी, इन स्मृतियों का हिन्दू धर्म में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

रामायण और महाभारत हिन्दुओं के महान् धार्मिक ग्रन्थ हैं। इनमें कथाओं के माध्यम से सत्य पर प्रकाश डाला गया है। रामायण में राम और रावण के युद्ध का वर्णन है। इसी प्रकार महाभारत में पाण्डवों और कौरवों के बीच युद्ध का चित्रण हुआ है। राम और पाण्डव शुभ प्रवृत्तियों के सूचक हैं तथा रावण और कौरव अशुभ प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। इन धार्मिक ग्रन्थों में शुभ की अशुभ पर अन्तिम विजय दिखलायी गयी है। कोटि-कोटि हिन्दुओं के ये दोनों ग्रन्थ प्रेरणा-स्रोत बन गये हैं।

धर्मात्माओं का आचरण भी हिन्दू धर्म के मुख्य स्तम्भों में एक है। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में, "जिस ढंग ये अनुशासित (शिष्ट) लोग आचरण करते हैं, वह भी धर्म का एक स्रोत है। यह आशा की जाती है कि भद्र मनुष्यों का व्यवहार शास्त्रों के आदेशों के अनुकूल ही होगा और इसीलिए उसे आचरण के लिए पथप्रदर्शक माना गया है।"⁶ इस प्रकार आप्त पुरुषों अर्थात् विश्वसनीय व्यक्तियों के आचरण पर हिन्दू धर्म आधारित है।

अच्छे अन्तःकरण को भी धर्म का एक स्रोत स्वीकार किया गया है। यह अन्तःकरण अनुशासित एवं श्रेष्ठ व्यक्ति का अन्तःकरण है, किसी उथले व्यक्ति के मन की मौज नहीं। हृदय जिस वस्तु की स्वीकृति देता हो या जिसकी आर्य लोग प्रशंसा करें, वही धर्म है। आचार्य मनु वह कार्य करने का आदेश देते हैं जिसके करने से आत्मा अर्थात् अन्तरात्मा को तृप्ति मिले। इस प्रकार, शुद्ध अन्तःकरण भी हिन्दू-परम्परा में धर्म का एक मुख्य आधार माना गया है।

हिन्दू धर्म में ईश्वर—विचार

हिन्दू धर्म ईश्वर को मुख्य केन्द्र मानता है। सर्वप्रथम हम इस धर्म के मूल स्रोत वेदों में ईश्वर की व्याख्या पाते हैं। वैदिक युग में आकर्षक एवं शक्तिशाली प्राकृतिक वस्तुओं को ही ईश्वर मान लिया गया था। सूर्य, उषा, चन्द्रमा, तूफान, भूकम्प आदि के

पीछे ईश्वरीय शक्ति छिपी मानी जाती थी। उस काल में ईश्वर के विषय में लोगों का विश्वास था कि यह शुभ एवं भद्र न होकर शक्तिशाली एवं महान् सत्ता है। बिना इसके आदेश के प्रकृति की कोई घटना नहीं घटती। उस समय मन्दिर, मठ आदि देवस्थलों का सर्वत्र अभाव था। ईश्वर का निवास प्रकृति में माना जाता था।

वैदिक काल में अनेक देवों की पूजा होने के कारण कुछ आलोचक हिन्दू धर्म को अनेकेश्वरवाद (polytheism) कह देते हैं। यह आलोचना युक्तिसंगत नहीं है। यह सत्य है कि वैदिक धर्म में अनेकेश्वरवाद (polytheism) का दर्शन होता है। किन्तु इसका वास्तविक स्वरूप अनेकेश्वरवादी नहीं कहा जा सकता। प्रो. मैक्स मूलर (Max Muller) ने इसे 'हेनोथीज्म' (henotheism) कहा है। जिस समय किसी देव-विशेष की आराधना की जाती थी उस समय उसे ही एक मात्र शक्तिशाली देव मान लिया जाता था। वैदिक धर्म को पूर्णतया 'हेनोथीज्म' कहना भी उचित नहीं जान पड़ता।

वैदिक धर्म का परम विकास एकेश्वरवाद (monotheism) में होता है। ईश्वर एक है, किन्तु इसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। 'एक सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'। उपनिषदों में ईश्वर को एक मात्र सत्ता कहा गया है। आत्मा और ईश्वर दोनों एक ही सत्ता

के दो नाम हैं। अज्ञानवश व्यक्ति इन दोनों को परस्पर भिन्न मानता है। ज्ञानोदय होते ही दोनों की अभिन्नता स्पष्ट दीख पड़ती है। 'अहं ब्रह्मास्मि' (I am Brahman)— हिन्दू धर्म का मुख्य नारा है। यही कारण है कि उपनिषद् काल में प्रकृति के स्थान पर आत्मा को ही ईश्वर मान लिया गया। आत्मा ही परम सत्ता है। यही ईश्वर है। आत्मा की पूजा ही ईश्वर—पूजा है। आत्मा के सिवा किसी अन्य सत्ता के पीछे दौड़ना पागलपन है। सम्पूर्ण हिन्दू धर्म आत्मा और ईश्वर के ऐक्य एवं अभिन्नता में पूर्ण आस्था रखता है। उपनिषद् में एक स्थान पर आत्मा के स्वरूप के विषय में प्रजापति कहते हैं— "जो पाप, बुढ़ापा, मृत्यु, भूख—प्यास और किसी भी इच्छा से स्वतन्त्र हो वही आत्मा है, तथा वही आत्मा ईश्वर है।"

हिन्दू धर्म के अनुसार, ईश्वर विश्व का रचियता, पालन—पोषण कर्ता और संहारक है। वह लीलावश विश्व की रचना करता है और इसकी रक्षा करता है। जब विश्व पापों से भर जाता है, तो वह इसका संहार कर नये सिरे से सृष्टि करता है। ईश्वर के तीनों कार्यों के अनुरूप ब्रह्मा, विष्णु और महेश की कल्पना की गई है। ब्रह्मा विश्व का रचियता है। विष्णु इसका पालनकर्ता है और महेश या शिव इसका संहारक है। ये त्रिदेव वास्तव में एक ही ईश्वर के तीन रूप हैं। यहाँ हिन्दू धर्म और

ईसाई धर्म में समानता दीख पड़ती है। ईसाई धर्म में भी त्रिमूर्ति पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा— (a) God the Father, (b) Christ the Son and (c) Holy Spirit का विचार पाया जाता है। त्रिमूर्ति का विचार मानने के बावजूद हिन्दू धर्म एकेश्वरवादी है।

हिन्दू धर्म के अनुसार, ईश्वर विश्व का उपादान-कारण (material cause) और निमित्त-कारण (efficient cause) दोनों है। विश्व में व्याप्त रहने के कारण इसे उपादान कारण कहते हैं और विश्व के बाहर रहने के कारण निमित्त-कारण कहते हैं। ईश्वर विश्वव्यापी (immanent) और विश्वातीत (transcendent) दोनों है। यह विश्व के कण-कण में व्याप्त है, किन्तु इसी में यह अपना सम्पूर्ण समाप्त नहीं कर देता। इसका अधिकांश भाग विश्व के बाहर रहता है। पुरुष सूक्त में ईश्वर के इस रूप को यों व्यक्त किया गया है— "He (God)pervades the whole world by a quarter of His being while three fourths of Him standover as immortal in the sky." यहाँ ईश्वर-सम्बन्धी विचार निमित्तोपादानेश्वरवाद (panentheism) का रूप ले लेता है।

हिन्दू धर्म के अनुसार, ईश्वर सर्वशक्तिशाली, सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी है। यह पूर्ण, नित्य, अविनाशी एवं स्वतन्त्र है। इसमें अनन्त गुण पाये जाते हैं, किन्तु छह गुण उल्लेखनीय हैं। ये हैं — आधिपत्य (majesty), वीर्य (almighty), यश (all-glorious), श्री

(infinitely beautiful), ज्ञान (knowledge) एवं वैराग्य (detachment)। इन्हें 'षडैश्वर्य' कहते हैं।

हिन्दू धर्म में ईश्वर को विश्व का नैतिक शासक (moral governor) माना गया है। यह व्यक्तियों को उनके कर्मानुसार सुख और दुःख प्रदान करता है। इस नैतिक शासक से डरकर व्यक्ति पाप करने में संकोच खाता है और पुण्य की ओर अग्रसर होता है। हिन्दुओं का पूर्ण विश्वास है कि ईश्वर पापियों को सजा और पुण्यात्माओं को पुरस्कार अवश्य देता है। इस प्रकार, ईश्वर नैतिक शासक एवं धर्म-व्यवस्थापक के रूप में जीवों का प्रेरणा-स्रोत है।

हिन्दुओं का ईश्वर कर्म-सिद्धान्त (Theory of Karma) का विरोधी नहीं है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार, व्यक्ति अपने कर्म का फल अवश्य पाता है। कर्म-सिद्धान्त अपने आपमें अचेतन होने के कारण व्यक्ति को कर्म-फल देने में असमर्थ है। नैयायिक आदि विचारक इसके संचालक के रूप में ईश्वर को अवश्य बतलाते हैं। ईश्वर कर्म-सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं करता। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार ही यह जीवों को सुख या दुःख प्रदान करता है। इस प्रकार, हिन्दू धर्म में ईश्वर और कर्म-सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं है।

हिन्दू धर्म का ईश्वर सर्वशक्तिशाली (all-powerful) होने के साथ-साथ ही दयालु एवं क्षमाशील भी है। वह शुभ एवं अशुभ के संग्राम में सदैव शुभ (good) का पक्ष लेता है और अशुभ का संहार करता है। वह अपने भक्तों की पुकार को कभी भी अनसुनी नहीं करता। उसे अपने भक्तों से अपार प्रेम है। राम, कृष्ण आदि के रूप में ईश्वर, जीव-कल्याण में सदैव तत्पर रहता है। पापी भी उसकी शरण में जाने पर पवित्र हो जाते हैं। भक्ति और प्रेम से ईश्वर को कोई भी व्यक्ति प्रसन्न कर सकता है। वह अपने भक्तों में जाति, धर्म, रंग-रूप, धन आदि के नाम पर भेद-भाव नहीं दिखलाता। ईश्वर-भक्ति का अधिकारी जितना ब्राह्मण है, उससे जरा भी कम अधिकारी शूद्र नहीं कहा जा सकता। गणिका, अजामिल, मीराबाई आदि अनेक भक्त उसकी दया से संसाररूपी सागर से पार उतर सके।

हिन्दू धर्म ईश्वर के अवतार का समर्थन करता है। जब-जब पृथ्वी पर अधर्म, दुराचार एवं बुराई की अधिकता होती है और धर्म, पुण्य एवं अच्छाई का हास होने लगता है तब-तब ईश्वर मनुष्य का रूप धारण करके पृथ्वी को पाप से मुक्त करते हैं। हिन्दू धर्म में इसके अनेक ज्वलंत उदाहरण देखने को मिलते हैं। राम, कृष्ण, परशुराम आदि ईश्वर के विभिन्न अवतारों का उल्लेख हिन्दू धर्म में सर्वत्र दीख पड़ता है। इन अवतारों का

मुख्य लक्ष्य धर्म और अधर्म के संग्राम में धर्म का पक्ष लेकर अधर्म का संहार करना और पृथ्वी को दोषरहित एवं पवित्र बनाना है।

ईश्वर का ज्ञान-प्राप्त करने के लिए आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। आत्मज्ञान ही ईश्वर का ज्ञान है। जो आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है वह ईश्वर का साक्षात्कार कर लेता है। आत्मा को जानने वाला स्वयं ब्रह्मा या ईश्वर बन जाता है। इसके लिए विवके-ज्ञान आवश्यक है। अज्ञान को दूर करके ही व्यक्ति आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है।

हिन्दू धर्म के अनुसार कर्म-सिद्धान्त का विवेचन

कर्म-सिद्धान्त के विरुद्ध निम्नलिखित आक्षेप प्रस्तुत किये गये हैं—

(1) कर्म सिद्धान्त भाग्यवाद (fatalism) का समर्थक है

कर्म सिद्धान्त के अनुसार हमारे वर्तमान जीवन हमारे पूर्व जीवन का परिणाम है। इस जीवन के सुख-दुःख पूर्व जीवन के कर्मों के आवश्यक परिणाम हैं। इस स्थिति में दुःखों से छुटकारा पाने का प्रयास अर्थहीन है। इस प्रकार, कर्म-सिद्धान्त व्यक्ति को भाग्य के भरोसे बैठे रहने की प्रेरणा देता है।

उपर्युक्त आक्षेप निराधार हैं। यह सत्य है कि हमें अपने पूर्व जन्म के संस्कारों के अनुसार सुख-दुःख इस जीवन में भोगना पड़ता है। किन्तु हमारे सुन्दर भविष्य की कुंजी हमारे हाथ

में है। वर्तमान जीवन में शुभ कर्म करके हम सुन्दर भविष्य की स्थापना कर सकते हैं। इस प्रकार, कर्म-सिद्धान्त के अनुसार, व्यक्ति अपना भाग्य-विधाता स्वयं है। यह व्यक्ति को भाग्य के भरोसे निष्क्रिय होकर बैठने की सलाह नहीं देता।

(2) कर्म-सिद्धान्त सामाजिक सेवा के मार्ग में बाधा उपस्थित करता है

इस सिद्धान्त के अनुसार, व्यक्ति के दुःख उसके पूर्व जीवन के पापों के आवश्यक परिणाम हैं। उसे तो अपने पापों की सजा अवश्य भोगनी चाहिए। ऐसी स्थिति में किसी दुखिया की मदद करना कर्म-सिद्धान्त का उल्लंघन कहा जा सकता है। अतः सामाजिक सेवा के मार्ग में कर्म-सिद्धान्त बाधक सिद्ध होता है।

यह आक्षेप निराधार है। सामाजिक सेवा से जी चुराने वाले व्यक्ति ही इस प्रकार प्रकार की दलील देते हैं। किसी पीड़ित व्यक्ति की मदद करना कर्म-सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं कहा जा सकता। महात्मा बुद्ध कर्म-सिद्धान्त के कट्टर समर्थक होते हुए भी आजीवन दुःखी मानवता की सेवा में तत्पर रहे। इस प्रकार, समाज सेवा एवं कर्म-सिद्धान्त में कोई असंगति या विरोध नहीं है।

(3) कर्मवाद ईश्वरवाद का खंडन करता है

ईश्वरवाद (theism) के अनुसार, ईश्वर ही विश्व का रचयिता, पालक एवं संहारक है। वही व्यक्ति को सुख या दुःख प्रदान करता है। ठीक इसके विपरीत, कर्म—सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति के कर्म, न कि ईश्वर, उसके सुख और दुःख के लिए उत्तरदायी हैं। शुभ कर्मों से व्यक्ति को सुख एवं अशुभ कर्मों से उसे दुःख मिलता है। व्यक्ति ही अपने सुख दुःख का निर्धारक है। इस प्रकार, कर्मवाद और ईश्वरवाद में विरोध दीख पड़ता है।

उपर्युक्त आक्षेप भी निराधार हैं। ईश्वरवाद और कर्मवाद में कोई विरोध नहीं है। न्याय—वैशेषिकों का कहना है कि 'अदृष्ट' (कर्म—सिद्धान्त) अचेतन होने के कारण व्यक्ति को स्वयं सुख—दुःख प्रदान करने में असमर्थ है। यह 'अदृष्ट' ईश्वर द्वारा संचालित होता है। ईश्वर के नियन्त्रण में रहकर कर्म—सिद्धान्त व्यक्ति को सुख या दुःख प्रदान करता है। इस प्रकार, ईश्वर और कर्मवाद में कोई विरोध नहीं है। मीमांसकों के अनुसार, कर्म—सिद्धान्त स्वयं व्यक्तियों को सुख या दुःख प्रदान करता है। इनके अनुसार, ईश्वर अस्तित्व मानना आवश्यक नहीं है। इसलिए यहाँ ईश्वरवाद और कर्मवाद में विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

(4) कर्म—सिद्धान्त ईश्वर की पूर्णता का खंडन करता है

ईश्वरवादियों के अनुसार, ईश्वर सर्वशक्तिशाली है। व्यक्तियों को सुख या दुःख प्रदान करनेवाला ईश्वर ही है। इसके विपरीत, कर्म-सिद्धान्त का कहना है कि व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार ही सुख या दुःख भोगता है। यदि कोई पापी दुःख झेल रहा है तो ईश्वर उसे मुक्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार यदि साधु-सन्त या सदाचारी आनन्द भोग रहे हैं तो ईश्वर उन्हें जबरदस्ती दुःखी नहीं बना सकता। व्यक्ति के सुख दुःख ईश्वर की मर्जी पर आश्रित नहीं है। यहाँ ऐसा लगता है कि कर्म-सिद्धान्त के सामने ईश्वर की एक भी नहीं चलती। इस प्रकार, उसकी पूर्णता विशेषकर सर्वशक्तिमानता पर आँच आने लगती है।

उपर्युक्त आक्षेप भी दोषपूर्ण हैं। ईश्वर कर्म-सिद्धान्त एवं नैतिक व्यवस्था को पूर्ण मान्यता प्रदान करता है। वह जानबूझकर नैतिक क्षेत्र में कर्म-सिद्धान्त को प्रभावपूर्ण कार्य करने की अनुमति प्रदान करता है। वह इस बात का विशेष ध्यान रखता है कि व्यक्ति को अपने कर्मानुसार सुख या दुःख अवश्य भोगना चाहिए। वह कर्म-सिद्धान्त के विरुद्ध अपनी अलौकिक शक्ति का प्रयोग नहीं करता। इससे उसकी शक्ति में कोई कमी नहीं आती। वह दुःखियों के करुण क्रन्दन अवश्य सुनता है, किन्तु उन्हें कर्म के अनुसार दुःख झेलना भी आवश्यक मानता है। इससे उसकी

दयालुता में भी कोई कमी नहीं आती। उसने व्यक्तियों को स्वतन्त्र संकल्प (free will) प्रदान किया है। इसलिए व्यक्ति को कर्मानुसार सुख या दुःख भोगने में वह कोई बाधा डालना वांछनीय नहीं मानता। अतः कर्मवाद और ईश्वर की पूर्णता (perfection) में कोई विरोध नहीं है।

कर्म-सिद्धान्त का महत्त्व

हिन्दूधर्म में कर्म-सिद्धान्त को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। इसका महत्त्व निम्नांकित तथ्यों से आँका जा सकता है –

(1) कर्म-सिद्धान्त व्यक्तियों की विभिन्नता की व्याख्या करने में समर्थ है

विश्व में व्यक्तियों में धन, आनन्द आदि बातों को लेकर अन्तर दीख पड़ते हैं। कुछ लोग धनी हैं, तो कुछ गरीब। कुछ लोग सुखी हैं तो कुछ लोग दुःखी हैं। कुछ लोग सुन्दर हैं , तो कुछ लोग कुरूप हैं। मनुष्य में इस प्रकार की विभिन्नताएँ उनके पूर्व जन्म के कर्मों के अन्तर के कारण हैं।। इस प्रकार, व्यक्तियों में पायी जाने वाली विभिन्नता की व्याख्या कर्म-सिद्धान्त के आधार पर सरलतापूर्वक की जा सकती है।

(2) कर्म-सिद्धान्त व्यावहारिक जीवन में मार्गदर्शक है

इस सिद्धान्त के अनुसार, शुभ कर्म सुख उत्पन्न करता है और अशुभ कर्म दुःख उत्पन्न करता है। इससे हमें व्यावहारिक जीवन में शुभ कर्मों को करने एवं अशुभ कर्मों को त्यागने की प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त व्यावहारिक जीवन में मार्ग-दर्शन करता है।

(3) कर्म-सिद्धान्त व्यक्ति को सान्त्वना प्रदान करता है

जब व्यक्ति यह जान लेता है कि उसके सुख या दुःख उसके अपने कर्मों के ही फल हैं, तो वह दुःख की अवस्था में ईश्वर या अन्य किसी व्यक्ति को नहीं कोसता। वह धैर्यपूर्वक दुःखों का पहाड़ उठा लेता है। यहाँ उसे अद्भुत सान्त्वना मिलती है।

(4) कर्म-सिद्धान्त हिन्दुओं के लिए आशा का केन्द्र है

कर्म-सिद्धान्त के अनुसार, व्यक्ति अपना भाग्य-विधाता स्वयं है। जीवन में सुख या दुःख लाना उसके कर्मों पर निर्भर है। वर्तमान जीवन में शुभ कर्मों के आधार पर भावी जीवन की सुन्दर इमारत खड़ी करना व्यक्ति के वश की बात है। इस प्रकार, कर्म-सिद्धान्त हिन्दुओं में एक अजीब आशा का संचार करता है।

हिन्दू धर्म की धार्मिक संस्थाओं की व्याख्या

उन्नति करते-करते ईश्वर के स्वरूप में पहुँच जाने की महत्त्वाकांक्षा धर्म है। यह हमें आत्मा की गहराई के साथ जीवन

व्यतीत करने में सहायक सिद्ध होता है। ध्यान और उपासना वे साधन हैं, जिनके द्वारा मन, स्वभाव एवं जीवन के प्रति दृष्टिकोण में परिमार्जन होता है। ध्यान का केन्द्र—बिन्दु ईश्वर है, जो वस्तुतः अवर्णनीय (indescribable) है।⁷ “वह सब रूपों से परे है; कोई उसे बाह्य आँखों से नहीं देख सकता।” उसकी किसी भी सुनिर्दिष्ट या अनुभवगम्य वस्तु से तुलना करना संभव नहीं है।⁸ वृहदराण्यक उपनिषद् के अनुसार, हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि “वह आत्मा ही सबका शासक है, स्वामी है और सबका राजा है।”⁹ अन्य उपनिषदों में भी इस बात की पुष्टि की गई है।

ईश्वर को उसके वास्तविक रूप में समझना बुद्धि के लिए संभव नहीं है। ईश्वर के विषय में हमारे विचार मूर्तियों या चित्रों द्वारा बनते हैं। ऐसे लोगों की संख्या अत्यन्त कम है, जो ईश्वर में श्रद्धा बिना किसी प्रतीक के रखते हों। लोकप्रिय प्रतीक ईश्वर में आस्था को दृढ़ बनाते हैं। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में, “जो गुरु लोग जनता को उलझाने की बजाय उसकी सहायता करने के लिए उत्सुक होते हैं, वे दार्शनिक सत्य को ऐसे प्रतीकों के रूप में उपस्थित करते हैं, जिन्हें जनता समझ सके।”¹⁰

मानव स्वभावतः किसी विषय को स्थूल रूप में समझना चाहता है। सूक्ष्म रूप में किसी तथ्य को ग्रहण करने में उसे अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। यही कारण है

कि सूक्ष्म सत्यों को पौराणिक कथाओं एवं उपमाओं द्वारा व्यक्त किया जाता है। “प्रतीकवाद असीम का ससीम में दर्शन है।” प्रतीक ससीम को पारदर्शक बना देते हैं, जिनके माध्यम से असीम का दर्शन किया जा सकता है। कोई भी मूर्ति (image) स्वयं ईश्वर नहीं बन सकती। मूर्ति तो ईश्वर की अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र है।

सभी मूर्ति-रचनाकारों में कुछ-न-कुछ त्रुटियाँ अवश्य रहती हैं। मूर्ति तो ईश्वरत्व का प्रतीक मात्र है। जिसका उद्देश्य विस्तृत एवं परम वास्तविक की भावना को जाग्रत करना है। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में, पूजा देवता के किसी सीमित मूर्त रूप को लक्ष्य करके नहीं होती, अपितु इस सर्वव्यापी विश्वास को लक्ष्य करके होती है— “जो अरूप होते हुए भी सर्वरूपमय है, जो सब ज्योतियों की ज्योति है। एक अंधेरे कमरे की खाली दीवार पर एक माला, जो दृश्य और मूर्त है, ‘अदृश्य’ और ‘अमूर्त’ के गले में लटका दी जाती है।” सत्रहवीं सदी में आइजाक पैनिग्टन ने कहा था— ‘अन्तिम और सर्वोपरि सत्य के सिवाय अन्य सब सत्य छाया मात्र हैं। फिर भी प्रत्येक सत्य अपने रूप में सच्चा है। अपने स्थान पर वह वास्तविक पदार्थ है, भले ही किसी अन्य स्थान पर वह केवल छाया मात्र हो, क्योंकि वह किसी अन्य तीव्रतर पदार्थ की छाया है। और छाया उसी प्रकार सच्ची छाया

है, जैसे पदार्थ सच्चा पदार्थ है।" ब्रैडले ने भी सत्यों के मात्रात्मकता को स्वीकार किया है। एक सत्य दूसरे से श्रेष्ठ होता है।

कुछ लोग मूर्ति-पूजा को अवांछनीय मानते हैं। हेराक्लीटस के शब्दों में, "जो व्यक्ति मूर्ति से प्रार्थना करता है, वह पत्थर की दीवार के साथ बकझक करता है।" कबीर आदि कई सन्तों ने भी मूर्ति-पूजा का विरोध किया है। हिन्दू धर्म में मूर्ति-पूजा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हम जब किसी पत्थर की मूर्ति की पूजा करते हैं तो हम पत्थर से प्रार्थना नहीं करते, बल्कि उस पत्थर में जिसकी मूर्ति अंकित है, उस व्यक्ति से, मनोवैज्ञानिक सान्निध्य द्वारा विश्वशक्ति से प्रार्थना करते हैं। गाँधीजी भी मूर्ति-पूजा को आवश्यक मानते थे। जो व्यक्ति निराकार ईश्वर को समझने में असमर्थ हैं, उनके लिए मूर्ति के रूप में ईश्वर की पूजा जरूरी मानी है। मूर्ति अदृश्य ईश्वर को सरलतापूर्वक समझने का एक सुन्दर माध्यम है। इस प्रकार, महात्मा गाँधी मूर्ति पूजा को हिन्दू धर्म का आवश्यक तत्त्व मानते रहे हैं।

साधारण मनुष्य के लिए मूर्ति-पूजा का भले ही महत्त्व हो; किन्तु उसे हिन्दू धर्म में साधारणतः गौण स्थान दिया जाता है। कहा गया है "भगवान् के साथ तादात्म्य सर्वोच्च है, उससे घटकर

ध्यान की स्थिति है, उससे भी नीचे स्रोत्रों और मन्त्रों का बारम्बार पाठ करने की स्थिति है और सबसे निचली स्थिति बाह्य पूजा की है।" भागवत महपुराण में भगवान् के मुख से कहलाया गया है कि मैं सब प्राणियों में उनकी आत्मा के रूप में विद्यमान हूँ। परन्तु मेरी विद्यमानता की उपेक्षा करके मर्त्य मनुष्य द्वारा मूर्ति-पूजा आवश्यक मानी गयी है। भगवान् के ही शब्दों में, अपना कर्तव्य करते हुए मनुष्य की मूर्ति इत्यादि द्वारा मेरी पूजा केवल तब तक करनी चाहिए, जब तक वह मुझे अपने हृदय में सब प्राणियों में स्थित नहीं जान लेता।" विद्वतजन ईश्वर को सभी प्राणियों के हृदय में स्थित मानते हैं। उनके लिए मूर्ति-पूजा का सहारा लेना अनावश्यक है।

दादू ने ठीक ही कहा है न मन्दिर में जाने की जरूरत, न मस्जिद में; क्योंकि असली मन्दिर और मस्जिद तो दिल में है, जहाँ 'मालिक' को सेवा और सलाम दिया जा सकता है।" एक प्रसिद्ध श्लोक में कहा गया है—"परमात्मा के सान्निध्य का अभ्यास सर्वोच्च प्रकार का धर्म है; परन्तु जो लोग अक्षम हों, उन्हें चिन्तन और ध्यान का अभ्यास करना चाहिए और यदि हम इस स्तर तक भी उठ पाने में असमर्थ हों, तो फिर मूर्ति-पूजा अपनायी जा सकती है। बिल्कुल कच्चे तथा प्रारंभिक लोगों के लिए होम, तीर्थयात्रा आदि करना उचित होगा।"¹¹

हिन्दू धर्म में विभिन्न प्रकार की मूर्तियों की पूजा का प्रचलन है। उपासक की श्रद्धा के अनुसार ही उपासना का फल मिलता है, ऐसा हिन्दू धर्म का विश्वास है। चाणक्य-नीति' में कहा भी गया है—“देवता न लकड़ी में हैं, न पत्थर में, न मिट्टी में। देवता तो रहस्यमय भाव में है, इसलिए यह रहस्यमय भाव ही कारण है।” विभिन्न मूर्तियाँ एक ही ईश्वर के अलग-अलग अभिव्यक्त करती हैं। हिन्दू धर्म इसे स्वीकार करता है कि विभिन्न मार्ग व्यक्तियों को एक ही सत्य तक पहुँचाने में समर्थ हैं। व्यक्ति को अपनी प्रकृति एवं क्षमता के अनूकूल किसी भी मार्ग का अनुसरण करके लक्ष्य की पूर्ति करनी चाहिए। इस प्रकार, विभिन्न मूर्तियों की पूजा को हिन्दू धर्म में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

वैदिक युग में आर्यों के पास मन्दिर नहीं थे। वे प्रतिमाओं का उपयोग भी नहीं करते थे। द्रविड़-सभ्यता ने मूर्ति पूजा को प्रोत्साहित किया और यज्ञ के स्थान पर पूजा को प्रमुख स्थान दिया। फिर तो, मन्दिरों एवं मूर्ति-पूजा पर हिन्दुओं के विभिन्न धार्मिक ग्रन्थ लिखे गये। “मन्दिर हिन्दू धर्म” के हृदय-प्रतीक हैं। वे स्वर्ग के प्रति पृथ्वी की प्रार्थनाएँ हैं। वे एकान्त एवं प्रभावोत्पादक स्थानों पर बने हुए हैं।” मन्दिरों में पाये जाने वाले मधुर संगीत, अपूर्व शान्ति, धुंधली ज्योतियाँ, मूर्ति और पूजा नृत्य, चित्रकला आदि का एक लक्ष्य है कि हम धर्म की उस शक्ति का

अनुभव करें, जिसकी परिभाषा संभव नहीं है। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में, "जो लोग पूजा में भाग लेते हैं, वे उस ऐतिहासिक हिन्दू अनुभव और उन प्रगाढ़ आध्यात्मिक शक्तियों से मिलकर एक हो जाते हैं, जिन्होंने हमारे आनुवंशिक उत्तराधिकार के सर्वोत्तम अंश को गढ़ा है।"

कहीं-कहीं मन्दिरों में पशुओं की बलि चढ़ाने की प्रथा पायी जाती है। इस प्रथा का हिन्दू धर्म स्वागत नहीं करता। "मन्दिरों में पूजा शुद्धतम ढंग की होनी चाहिए। पुष्पों एवं सुगंधित धूप आदि की बलियाँ चढ़ाने की अनुमति दी जा सकती है, किन्तु पशुओं की बलियों का निषेध कर देना चाहिए।" ऋग्वेद में भी कहा गया है कि स्तुति, समिधा या पकाते हुए अन्न की बलि भी पशुओं के बलिदान जैसी अच्छी है। अहिंसा के सिद्धान्त के आधार पर मांसाहार के स्थान पर शाकाहार या निरामिस भोजन को उचित ठहराया गया। हमें अपना सर्वस्व ईश्वर को समर्पित कर देना चाहिए। यही बलिदान का सच्चा अर्थ है।

मन्दिरों एवं मठों का रूप आज विकृत होता जा रहा है। पुजारी एवं मठाधीश स्वार्थ-लोलुप एवं चरित्रहीन होते जा रहे हैं। देवस्थल भ्रष्टाचार के अड्डे बनते जा रहे हैं। किन्तु इस कारण मन्दिर, मठ एवं देवस्थलों का बहिष्कार नहीं किया जा सकता। इनकी पवित्रता एवं शुद्धता की रक्षा होनी चाहिए। मन्दिरों में सभी

का प्रवेश होना उचित है। समाज के किसी भी अंग को मन्दिर-प्रवेश से रोकना सर्वथा अनुचित है। इस दिशा में हिन्दू धर्म में सन्तोषप्रद प्रगति हुई है। प्रायः सभी मन्दिरों के दरवाजे हरिजनों के लिए भी खुल गये हैं।

हिन्दू धर्म में तीर्थ यात्रा का भी महत्त्व कम नहीं है। तीर्थस्थल का दर्शन करने से व्यक्ति की संकुचित दृष्टि विस्तृत होती है और उसकी धार्मिक भावना का विकास होता है। हिन्दू धर्म में तीर्थ यात्रा के नैतिक पक्ष पर ही अधिक जोर दिया जाता है। आन्तरिक पवित्रता को पाकर ही हम पापों से मुक्त हो सकते हैं। तीर्थस्थलों के पवित्र जल से शरीर को धोकर कोई व्यक्ति ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता। इसके लिए उसके अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक है। संसाररूपी सागर को पार करने के लिए नैतिक नियमों का पालन एक नौका की भाँति आवश्यक है। महाभारत में कहा गया है—“यह विशाल विश्व परमात्मा का पवित्र मन्दिर है। शुद्ध हृदय पवित्र तीर्थस्थल हैं और शाश्वत सत्य अनश्वर शास्त्र है।”¹²

हिन्दू धर्म में श्राद्ध-विधि का विस्तृत विवरण देखने को मिलता है। सीधी-सादी पितृ-पूजा ने ही श्राद्ध का रूप ले लिया है। श्राद्ध पूर्वजों के प्रति श्रद्धा या सम्मान का प्रतीक है। श्राद्ध-विधि में हम यह दिखलाते हैं कि हम अपने मृत पूर्वजों को

अभी भी याद रखे हुए हैं और उनकी भूख-प्यास मिटाने के लिए उन्हें प्रतीक के रूप में भोजन एवं व्यंजन प्रस्तुत करते हैं। यहाँ दिवंगत आत्मा के साथ आध्यात्मिक मिलन पाया जाता है।

गौ रक्षा भी हिन्दुओं का धार्मिक कृत्य है। बहुत प्रारंभिक काल से ही गौ रक्षा को धार्मिक स्वीकृति प्राप्त है। गाय को धाय समझा जाता है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में गाय की उपयोगिता पर कोई सन्देह नहीं कर सकता। इसलिए हिन्दुओं में गाय के प्रति आदर एवं सम्मान का भाव पाया जाता है। गौ रक्षा के लिए हिन्दू अपना रक्त बहाने को भी तैयार रहते हैं।

वर्णाश्रम धर्म

वर्ण एक प्रकार की जाति है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में वर्ण-भेद का सर्व प्रथम वर्णन मिलता है। प्रारम्भ में आर्यों के बीच वर्ण-भेद का अभाव था। सभी आर्य एक ही वर्ण या जाति के माने जाते थे। किन्तु बाद में इन लोगों में वर्ण भेद का उदय हुआ। चार प्रकार के वर्ण माने गये—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

किसी भी सामाजिक व्यवस्था के विकास के लिए दो तत्त्व आवश्यक हैं—व्यक्ति का विकास एवं समाज की स्वस्थ प्रगति। सामाजिक व्यवस्था के लिए विद्या, शक्ति, उत्पादन, एवं सेवा अनिवार्य तत्त्व हैं। इन चारों के अनुकूल ही हिन्दू धर्म में चार

वर्णों की स्थापना की गयी है। सामाजिक व्यवस्था की योजना तैयार करना बुद्धिजीवियों का कार्य है। इसे मान्यता देना शक्तिशाली व्यक्तियों का कार्य है और इन योजनाओं पर योग्य कर्मचारियों की मदद से अमल करना कुशल व्यक्तियों का कार्य है।¹³

मनुष्य स्वभावतः चार वर्गों में रखा जा सकता है—विद्वान्, शक्तिशाली, कुशल एवं श्रमिक। इस प्रकार चार प्रकार के वर्णों का उदय होता है। यह वर्गीकरण केवल हिन्दू धर्म के साथ ही जुड़ा हुआ नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण मानव-जाति के साथ लागू होता है। प्लेटो (Plato) ने भी अपनी पुस्तक रिपब्लिक गार्जियन में सैनिक के भेद को स्वीकार किया है। कोई सोने से निर्मित है तो कोई पीतल और कोई लोहे से निर्मित माने गये है। इसी के अनुरूप उनको अधिकार और कर्तव्य मिले हैं। फिलॉसॉफी से किंग की अवधारणा जगत् प्रसिद्ध है।

चार वर्णों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

(1) ब्राह्मण

ब्राह्मण का कार्य विद्यार्जन और इसका प्रसार माना गया है। प्रत्येक समाज में एक ऐसा वर्ग होना चाहिए, जो आर्थिक संकटों से मुक्त हो, जिसे दैनिक आवश्यकताओं की चिन्ता न हो और जो विद्यार्जन और इसके प्रसार में रत हों। प्लेटो (Plato) ने

भी इस प्रकार के वर्ग की महत्ता स्वीकार की है। इनके अनुसार, दार्शनिकों के हाथ में सत्ता की बागडोर रहनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, दार्शनिक को ही शासक होना चाहिए (Philosophers alone must be kings.)। समाज को नैतिक पथ—प्रदर्शन करना ब्राह्मणों का मुख्य कार्य है।

(2) क्षत्रिय

क्षत्रिय का कार्य समाज एवं देश की रक्षा करना है। ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित महान् लक्ष्यों की प्राप्ति का दायित्व क्षत्रियों पर है। हिन्दू धर्म में अहिंसा (non-violence) को परम धर्म माना गया है। किन्तु शान्ति व्यवस्था और कानून का पालन कराने के लिए हिंसा एवं शक्ति—प्रयोग को भी मान्यता दी गयी है। जब तक समाज में अपूर्ण (imperfect) लोग हैं तब तक दोषियों को सही रास्ते पर लाने के लिए शक्तिशाली शासकों की आवश्यकता पड़ती है। शक्ति का प्रयोग नैतिक रूप से होना चाहिए। क्षत्रिय कानून के रक्षक एवं सेवक के रूप में शासन करते हैं। प्राचीन काल में केवल क्षत्रिय ही युद्ध में भाग लेते थे। आज निर्दोष एवं असैनिक भी युद्ध की चपेट में पड़ जाते हैं। इसका एक प्रधान कारण यह है कि आज युद्ध का दायित्व केवल क्षत्रियों पर नहीं है।

(3) वैश्य

वैश्य का कार्य व्यापार एवं कृषि द्वारा धन उत्पन्न करना है। इसके लिए ये लोग व्यापार, कृषि आदि का सहारा लेकर समाज का स्तर ऊँचा उठाते हैं। धनोपार्जन का मुख्य लक्ष्य यहाँ स्वार्थ-सिद्धि का भाव नहीं जगाता, बल्कि लोक कल्याण की भावना ही इसके मूल में निहित है। आज के समाज में लाखों लोगों के मस्तिष्क, शरीर एवं आत्मा को विकृत बना रहे हैं। मुट्ठी-भर लोग वाणिज्य एवं व्यापार के द्वारा करोड़पति बनते जा रहे हैं और शेष लोग दरिद्र होते जा रहे हैं। ये घृणित कार्य वास्तव में वैश्यों के कार्य नहीं कहे जा सकते। महात्मा गाँधी का विचार था कि जो लोग आवश्यकता से अधिक धनोपार्जन करते हैं, वे चोर हैं और सजा के भागी हैं। गीता में भी इस विचार का समर्थन मिलता है।

(4) शूद्र

शूद्र का काम समाज की सेवा करना है। अन्य सभी वर्णों के लोगों की सेवा-शुश्रूषा करना ही शूद्रों का मुख्य कार्य माना गया है। श्रम ही इनकी जीविका का आधार है।

आश्रम

जिस प्रकार मनु चार वर्ण बतलाते हैं, उसी प्रकार वे चार आश्रम भी मानते हैं—(1) ब्रह्मचर्याश्रम, (2) गृहस्थाश्रम, (3) वानप्रस्थाश्रम और (4) संन्यासाश्रम। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन

इन्ही चारों भागों में विभक्त है। आश्रम का विभाजन उपनिषद् काल में ही हुआ था।

(1) ब्रह्मचर्याश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन, इन्द्रिय-निग्रह, व्यायाम, सन्ध्या, भिक्षाटन, गुरु-सेवा और विद्योपार्जन आवश्यक मार्ग बताए गये हैं। मानव-शिशु सभी प्राणियों में सबसे अधिक असहाय माना जाता है। उसके पालन-पोषण, उसकी शिक्षा-दीक्षा आदि पर पूर्ण ध्यान रखना पड़ता है। बच्चे को जीवन के रागात्मक एवं सौन्दर्यात्मक पहलुओं से पूर्णतया अलग रहना चाहिये। इस अवस्था में व्यक्ति को ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए विद्याध्ययन में रत रहना चाहिये।

(2) गृहस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम में शादी, सन्तानोत्पत्ति, पंच महायज्ञ आदि धर्म आवश्यक माने गये हैं। मनुष्य के रागात्मक एवं कामात्मक (sexual) पक्ष भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। गृहस्थ के रूप में व्यक्ति अपनी काम-वृत्ति की सन्तुष्टि के लिए शादी-ब्याह करता है। समाज को जीवित रखने के लिए सन्तानोत्पत्ति को आवश्यक माना गया है। व्यक्ति का समाज के प्रति यह दायित्व अति महत्त्वपूर्ण है। यदि व्यक्ति सन्तान उत्पन्न करना बन्द कर दे तो फिर समाज का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।

(3) वामप्रस्थाश्रम

वानाप्रस्थाश्रम में ईश्वर में तल्लीनता और उसकी आराधना आवश्यक धर्म बतलाय गये हैं। इस अवस्था में व्यक्ति की उम्र काफी हो जाती है और उसकी इन्द्रियाँ अपेक्षाकृत कमजोर हो जाती हैं। इस आश्रम में व्यक्ति को सहिष्णु, दयालु, ईश्वरभक्त एवं धर्मावलम्बी होना आवश्यक है। व्यक्ति केवल काम—वासना की तृप्ति, सन्तानोत्पत्ति एवं जीविकोपार्जन से ही सन्तुष्ट नहीं हो सकता। वह अपने अन्दर निहित आत्मा की महानता महसूस करने लगता है। जब बच्चे सयाने हो जाते हैं तो व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ किसी एकान्त स्थान में जाकर ईश्वर की आराधना, तत्त्व—चिन्तन आदि में तल्लीन हो जाता है। समाज की हलचल से वह अपने को पूर्णतया मुक्त रखता है।

(4) संन्यासाश्रम

संन्यासाश्रम अन्तिम आश्रम है। इस अवस्था में मनुष्य सांसारिक मोह—माया से ऊपर उठकर संन्यास ग्रहण करता है। उसमें ममता, लोभ, मोह ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि का सर्वथा अभाव हो जाता है। संन्यासी के लिए सम्पूर्ण विश्व ही उसका राष्ट्र है (The world is his country) वह सभी प्राणियों के प्रति मैत्री—भाव रखता है। वह मन, वचन एवं कर्म से किसी प्राणी को कोई क्षति नहीं पहुँचाता।

संन्यासी का कोई निश्चित प्रवास स्थान नहीं रहता। वह सतत् भ्रमणशील रहकर आत्मा की ज्योति जलाता रहता है। वह सभी प्रकार के स्वार्थों से ऊपर उठ जाता है। डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार, 'संन्यासी' हिन्दू धर्म में आदर्श पुरुष (ideal man) के रूप में पूजनीय है। निःस्वार्थ भाव से लोक कल्याण के कार्यों में रत रहना इनका स्वभाव हो जाता है। भारत में प्रत्येक युग में ऐसे संन्यासियों का दर्शन हो सकता है। वैदिक ऋषि, उपनिषदों के महर्षि, राम, कृष्ण, बृद्ध, विवेकानन्द, गाँधी आदि उत्तम कोटि के संन्यासी माने गये हैं। गाँधी ने अनासक्ति योग का सफल प्रयोग राजनीति में कर दिखलाया।

वर्णाश्रम धर्म का मूल्यांकन (Evaluation)

आज वर्ण व्यवस्था का सम्मान कम होने लगा है। तुलसीदास के रामचरित मानस तथा बुद्ध के धम्मपद में इस बात का उल्लेख मिलता है। धम्मपद का कहना है—“जटा, मोक्ष एवं जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं बनता। ब्राह्मण कहलाने के लिए सत्य, धर्म एवं शुद्धता आवश्यक है।” राजा जनक वर्ण से क्षत्रिय होने पर भी कर्म से ब्राह्मण थे। इसी प्रकार, परशुराम जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी कर्म से क्षत्रिय थे। आजकल वर्ण व्यवस्था की अधोगति देखने को सर्वत्र मिलती है। आज ब्राह्मण वेदों का ज्ञान नहीं रखता, क्षत्रिय शस्त्रों की पूजा नहीं करता, वैश्य व्यापार नहीं

करता और शूद्र समाज की सेवा करना नहीं चाहता। वंश के आधार पर किसी को ऊँच या नीच कहना अनुचित है। कर्म से ही व्यक्ति महान् या पतित कहा जा सकता है। कर्म के आधार पर ही कोई व्यक्ति वस्तुतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कहला सकता है।

आधुनिक युग में वर्ण व्यवस्था को अप्रजातान्त्रिक (undemocratic) बतलाकर इसकी भर्त्सना की जाती है। जातिवाद, अस्पृश्यता (untouchability) आदि अनेक बुराइयों की उत्पत्ति वर्ण व्यवस्था से ही बतलायी जाती है। इसी कारण कुछ लोग तो वर्णहीन समाज की कल्पना करने लगे हैं। एम. एन. राय एवं राहुल सांकृत्यायन ने भी इस बात की पुष्टि की है।

उपर्युक्त आरोप निराधार हैं। डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार, वर्ण व्यवस्था पूर्णतया प्रजातान्त्रिक है। प्रत्येक व्यक्ति में समान क्षमता नहीं रहती। व्यक्ति को अपनी रुचि एवं क्षमता के आधार पर ही कोई पेशा अपनाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति सभी प्रकार के कर्म नहीं कर सकता है। आज के युग में विशेषज्ञों (specialists) की प्रधानता है। अतः हमें इस लघु जीवन में कुछ कार्यों को चुन लेना चाहिए और उनको ही कुशलता के साथ पूरा करना चाहिए। हिन्दू धर्म के अनुसार, प्रत्येक वर्ण के धर्म महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से किसी को उच्च या निम्न कोटि का नहीं कहा जा सकता।

महात्मा गाँधी ने तो व्यावहारिक जीवन में इसे सिद्ध कर दिया है कि वैश्य और शूद्र किसी भी अर्थ में ब्राह्मणों और क्षत्रियों से जरा भी कम नहीं हैं। शूद्रों के प्रति उनके हृदय में किसी प्रकार का हेय भाव न था। गीता में भी कहा गया है कि स्वधर्म से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है। व्यक्ति को अपने ही धर्म का पालन करना चाहिए और दूसरों के धर्मों के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए।

चारों वर्ण समाज के आवश्यक अंग हैं। इनमें से किसी भी अंग की उपेक्षा नहीं की जा सकती। डॉ. भगवानदास ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है। ज्ञानार्जन, शक्ति-प्रदर्शन, व्यापार और समाज-सेवा अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं। यदि इन्हें एक सूत्र में लाकर कार्य किया जाय, तो समाज का कायापलट हो सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र समाजरूपी इमारत के चार आवश्यक स्तंभ हैं। कोई भी समाज वर्ण व्यवस्था के अभाव में कायम नहीं रह सकता।

माक्स (Karl Marx) एवं एंगेल्स ने वर्णविहीन समाज (classless society) का नारा बुलन्द किया था। किन्तु स्वयं उनके सिद्धान्त के अनुयायी देश रूस में अभी तक वर्ण व्यवस्था विद्यमान है। वहाँ कुछ लोग शासन की बागडोर संभाले हुए हैं, कुछ लोग सेना में कार्य कर रहे हैं। क्या यह वर्ण व्यवस्था नहीं है? कोई भी समाज वर्ण व्यवस्था से मुक्ति नहीं पा सकता।

हिन्दू धर्म में वर्णित वर्ण व्यवस्था कई दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है। मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं अन्य तथ्यों पर यह व्यवस्था आधारित है। इसका अन्त संभव नहीं है।

वर्ण व्यवस्था के कुछ विकृत रूप आज देखने को मिलते हैं। हिन्दुओं में विभिन्न जातियों एवं उपजातियों में परस्पर संघर्ष छिड़ा रहता है। जाति-प्रथा आज सम्पूर्ण भारतीयों में ईर्ष्या, द्वेष एवं कलह का बीज बो रही है। इसलिए कुछ लोग वर्ण व्यवस्था को समाप्त करने की बात सोचने लगे हैं। किन्तु ऐसा सोचना गलत है। वर्ण व्यवस्था जाति प्रथा से सर्वथा भिन्न है। जाति-प्रथा का अन्त अवश्य होना चाहिए, न कि वर्ण व्यवस्था का (Caste system must be eliminated but not the class system itself.)। जब तक समाज के व्यक्ति अपूर्ण हैं और आध्यात्मिक दृष्टि से पिछड़े हैं तब तक वर्ण व्यवस्था से मुक्ति नहीं मिल सकती। इस व्यवस्था का अन्त तभी संभव है, जब सभी लोग आध्यात्मिक दृष्टिकोण से समाज के उच्च स्तर पर आ जायें; किन्तु यह केवल काल्पनिक वस्तु है।

अतः हिन्दू धर्म में वर्णाश्रम धर्म का अत्यधिक महत्त्व रहा है। आज के युग में भी इसकी महत्ता पर कोई आँच नहीं आ सकती। हाँ, इसमें सतत् सुधार की आवश्यकता है। समय की

गति के साथ इसमें भी संशोधन की आवश्यकता महसूस की जा रही है।

हिन्दू धर्म को 'वैदिक धर्म' के नाम से भी पुकारा जाता है। अपौरुषेय वेद के द्वारा नियन्त्रित होने के कारण इसे वैदिक धर्म की संज्ञा दी जाती है। भारतीय परम्परा में धर्म 'रिलीजन' शब्द का पर्याय नहीं कहा जा सकता है। 'रिलीजन' शब्द तो केवल बाह्य आचारों के लिए प्रयुक्त होता है, जो किसी देश के लोगों को एकता के सूत्र में बाँधने का कार्य करता है। परन्तु धर्म शब्द 'रिलीजन' (religion) शब्द से अधिक व्यापक है। इसके अन्तर्गत पाश्चात्य भाषा के 'कल्चर' (culture), 'सिविलाइजेसन' (civilization) आदि का पूर्ण समावेश हो जाता है। धर्म ही भारतीयों के जीवनायापन का आधार रहा है। हममें जो कुल बल है, जो कुछ आध्यात्मिकता है, वह सब धर्म के ही मूलाधार पर अवस्थित है। धर्म रूपी कल्पवृक्ष की शीतल छाया में रहकर ही हिन्दू अपना भौतिक सुख तथा आधिभौतिक कल्याण का सम्पादन कर सुखी जीवन व्यतीत करते रहे हैं।

पुरुषार्थ चार प्रकार के माने गये हैं—अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। इन चारों में धर्म का स्थान अर्थ और काम (wealth and enjoyment) से श्रेष्ठतर है। केवल मोक्ष ही इसके ऊपर हैं। महाकवि कालिदास ने धर्म को त्रिवर्ग (अर्थ, काम और धर्म) का

सार बतलाया है। महर्षि वेदव्यास ने भी महाभारत में 'धर्म' को ही अर्थ (wealth) और काम (sexual enjoyment) का आधार बतलाते हुए कहा है—“बाहों को ऊँचा उठाकर, मैं जोर से चिल्लाकर कह रहा हूँ, परन्तु मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्म से ही 'अर्थ' की प्राप्ति होती है। धर्म से ही काम की प्राप्ति होती है। अतएव ऐसे धर्म का पालन क्यों नहीं किया जाता?”

'धर्म' शब्द देखने में जितना ही छोटा एवं सरल है, उसकी परिभाषा देना उतना ही कठिन है। विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। 'धर्म' शब्द की उत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है धारण करना। प्रजा को, जनता को, एक सूत्र में धारण करने के कारण ही धर्म की धर्मता है।

महर्षि कणाद ने वैशेषिक-सूत्र में धर्म का यह लक्षण बतलाया है—“यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।” अर्थात्, धर्म वह वस्तु है जिससे भौतिक अभ्युदय तथा पारलौकिक मोक्ष प्राप्त होता है। भारतीय परम्परा में इहलोक और परलोक, भौतिक और आध्यात्मिक दोनों का सामन्जस्य पाया जाता है, धर्म को मोक्ष का साधन माना जाता है। त्रिविध दुःखों (आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक) का अन्त ही 'मोक्ष' है। इसकी प्राप्ति धर्म के द्वारा ही संभव है।

हिन्दू धर्म विश्व के सभी धर्मों से श्रेष्ठ है। विश्व के अन्य धर्म मानवकृत हैं और इनके प्रवर्तक कोई-न-कोई मनुष्य ही हैं। किन्तु हिन्दू धर्म किसी विशिष्ट काल में किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा उत्पन्न नहीं हुआ। यह तो सनातन है जो आदिकाल से ही चला आ रहा है और संसार के सभी प्राणियों के लिए लाभदायक एवं उपयोगी रहा है। यह सनातन धर्म विश्वव्यापी, सार्वभौम एवं सर्वकालिक हैं। विश्व के सभी धर्मों के मूल में सनातन धर्म किसी-न-किसी रूप में विद्यमान कहा जा सकता है। इसी धर्म की उपासना ने भारत भूमि को पवित्र कर्म भूमि बनाया है, जहाँ जन्म लेने के लिए देवता भी तरसते रहते हैं।

वैदिक धर्म के सिद्धान्त

वैदिक धर्म के निम्नलिखित आधारभूत सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं—

1. वर्ण

वैदिक धर्म की आधारशिला वर्णाश्रम धर्म पर स्थित है। वर्ण और आश्रम के अभाव में हिन्दू धर्म टिक नहीं सकता। हिन्दू धर्म में चार प्रकार के वर्ण (the fourfold class) बतलाये गये हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। सभी मनुष्य इन्हीं चारों वर्णों के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। प्रथम वर्ण उन लोगों का है जो बुद्धिजीवी है; अर्थात् जो अपने ज्ञान, विद्या एवं

विचार—शक्ति के द्वारा कहा जाता है। यह वर्ण समाज का मुकुट या मस्तिष्क माना जाता है। दूसरा वर्ण 'क्षत्रिय' कहलाता है। क्षत्रियों का कार्य शस्त्र धारण करके देश एवं समाज को बाहरी एवं भीतरी शत्रुओं से सुरक्षित रखना है। समाज में व्यवस्था एवं शान्ति कायम रखना इनका पवित्र कर्तव्य है। तीसरा वर्ण 'वैश्य' है। वैश्यों का कार्य कृषि करना, गौपालन एवं वाणिज्य करना है। कृषि एवं व्यापार के माध्यम से समाज को धन धान्यपूर्ण बनाना इनका मुख्य कर्तव्य है। धन ही किसी समाज का प्रमुख आधार है। समाज को सुखी बनाना शूद्रों का मुख्य कर्तव्य है। वेदों में शूद्रों की उपमा 'पैरों' से दी गयी है। जिस समाज रूपी गाड़ी के चक्के गतिहीन हो जाते हैं, वह समाज दीर्घकालीन नहीं रह सकता है। आचार्य मनु ने समाज को सुव्यवस्थित रूप देने के लिए उपर्युक्त चारों वर्णों में सामन्जस्य का रहना आवश्यक बतलाया है।

कुछ आधुनिक शिक्षित लोग वर्ण व्यवस्था को इस युग के लिए अनुपयुक्त बतलाकर इसकी खिल्ली उड़ाते हैं। इन आलोचकों का वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध जेहाद छेड़ने का कोई आधार नहीं दीख पड़ता है केवल हमारे ऋषि—मुनियों ने ही वर्ण—व्यवस्था की स्थापना न की थी, बल्कि पाश्चात्य विचारक प्लेटो (Plato) ने भी अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' (Republic) में इन

चारों वर्णों का समर्थन किया है। हिन्दू धर्म में वर्ण व्यवस्था का मनोवैज्ञानिक आधार है। तथाकथित वर्णहीन रूसी समाज में भी चार वर्ण विद्यमान हैं। अभी भी वहाँ कुछ लोग बुद्धिजीवी हैं, कुछ योद्धा या सैनिक हैं कुछ व्यापारी या कृषक हैं और कुछ लोग मजदूरी करके जीवन-यापन करते हैं। क्या यह वर्ण व्यवस्था नहीं है? ऐसी स्थिति में वर्ण व्यवस्था का उन्मूलन संभव नहीं है।

पाश्चात्य जगत् में वर्ण-व्यवस्था का समुचित पालन न होने के कारण ही संघर्ष होते रहते हैं। भारतीय परम्परा में वर्ण व्यवस्था के चलते कभी भी आपस में पेशे के लिए संघर्ष नहीं हुआ। लोग अपने निधारित पेशों को कुशलतापूर्वक सम्पादित करने का प्रयास करते थे। गीता ने भी 'स्वधर्म' को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। वर्ण व्यवस्था से समस्त मानव जाति का कल्याण संभव है।

(2) आश्रम

हिन्दू धर्म में चार वर्ण की भाँति चार आश्रम भी हैं—(क) ब्रह्मचर्याश्रम (ख) गृहस्थाश्रम, (ग) वानाप्रस्थाश्रम और (घ) संन्यासश्रम। हमारे वैदिक ऋषियों ने व्यक्ति के जीवन की सामान्य अवधि एक सौ वर्ष निर्धारित कर दी थी। हमारे पूर्वज प्रतिदिन, प्रातः ईश्वर की प्रार्थना करते हुए सौ वर्ष जीने की कामना किया करते थे। इस अवधि को चार भागों में विभक्त

किया गया है। इन्हें ही 'आश्रम' कहते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में व्यक्ति ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विद्यार्जन करता है और अपने भावी जीवन की तैयारी करता है। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति विद्याध्ययन के बाद विवाह करता है और सन्तानोत्पत्ति द्वारा समाज का अस्तित्व कायम रखता है। मनु ने इस आश्रम को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया है। वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासश्रम इसी गृहस्थाश्रम पर आधारित है। तीसरा आश्रम 'वानप्रस्थाश्रम' है। सन्तानों के जवान हो जाने पर व्यक्ति को व्रत, उपवास, अर्चा, पूजा एवं तपस्या आदि में अपना समय बिताना चाहिए। अन्तिम आश्रम संन्यास श्रम है। इस अवस्था में व्यक्ति को काम्य कर्म त्यागकर लोक कल्याण के कार्यों में रत हो जाना चाहिये। मनु ने संन्यासी का लक्षण अपरिग्रह बतलाया है। प्राचीन भारत में शंकर आदि आदर्श संन्यासी थे। आधुनिक भारत भी संन्यासियों से खाली नहीं है।

(3) कर्मवाद

हिन्दू धर्म कर्मवाद में अटूट विश्वास रखता है। कर्मवाद के अनुसार, जो जैसा कर्म करता है, उसे उसका फल अवश्य मिलता है। कर्म के अनुसार ही व्यक्ति का जीवन और प्रकृति निर्धारित होती है। ईश्वर ने कर्म के अनुसार फल की व्याख्या कर रखी है। वह जीवों को सुकृत कर्मों के लिए सुख एवं बुरे कर्मों के

लिए दुःख प्रदान करता है। विश्व के लोगों में पायी जाने वाली विषमता का मुख्य कारण कर्म हैं। ईश्वर तो निमित्त मात्र है। व्यक्ति अपने कर्मों के फलों (पाप या पुण्य) से मुक्त नहीं हो सकता। व्यासजी ने महाभारत में ठीक ही कहा है—“जिस प्रकार हजारों गौओं के बीच बछड़ा अपनी माँ को ढूँढ़ लेता है, उसी प्रकार पूर्वकृत कर्म कर्ता का अनुसरण करते हैं।”¹⁴

कर्मवाद का समर्थन वेदों, उपनिषदों एवं भारत में पाये जाने वाले अन्य सभी धर्मों में पाया जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा जाता है कि शुभ कर्म के सम्पादन से व्यक्ति पुण्य का भागी बनता है और अशुभ कर्मों के सम्पादन से वह पाप का भागी बनता है। भारत में उत्पन्न सभी धर्मों ने कर्म के गंभीर तत्त्व को अपनाया है। जिस प्रकार भौतिक जगत् की व्यवस्था के लिए कार्य-कारण नियम (The Law of Causation) आवश्यक है, उसी प्रकार नैतिक जगत् की व्यवस्था की व्याख्या के लिए कर्मवाद (Theory of Karma) से बढ़कर कोई अन्य वैज्ञानिक तथा युक्तिसंगत सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता।

(4) जन्मान्तरवाद का पुनर्जन्म (Rebirth)

हिन्दू-शास्त्रों का दृढ़ विश्वास है कि वर्तमान जीवन ही हमारा प्रथम और अन्तिम जीवन नहीं है। वर्तमान जीवन, जीवन-मरण की अनादि और अनन्त श्रृंखला में एक साधारण

कड़ी है। व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म धारण करता है और मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेता है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है— “जातस्यहि ध्रु वो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च”; अर्थात्, जिसका जन्म हुआ, उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मर चुका है, उसका जन्म लेना भी आवश्यक एवं ध्रुव सत्य है।

पुनर्जन्म को प्रमाणित करने के लिए शास्त्रीय प्रमाणों के साथ-साथ युक्ति-प्रमाण एवं प्रत्यक्ष-प्रमाण का सहारा लिया जाता है। गीता में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि यह सिद्धान्त कर्मवाद का पोषक तथा सहायक है। गीता में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि पुण्यात्मा लोग पुण्य के फल से स्वर्ग में जाकर देवताओं के साथ सुख भोगते हैं और पुण्य फल के क्षीण होने पर पुनः पृथ्वी पर जन्म लेकर दुःख झेलते हैं। वासना के शिकार व्यक्ति बार-बार जन्म लेते और मरते हैं। कुछ ऐसे भी लोग मिलते हैं जिन्हें अपने पूर्व जन्म की बातों का स्मरण रहता है। इन्हें ‘जाति-स्मरण’ ज्ञान कहा जाता है। ऐसी स्थिति में जन्मान्तरवाद या पुनर्जन्म में सन्देह करने का कोई कारण नहीं दीखता।

(5) अवतारवाद (Incarnation)

हिन्दुधर्म का अटूट विश्वास है कि धर्म की रक्षा के लिए तथा अधर्म के विनाश के लिए, भक्तों के उद्धार के लिए एवं

दुष्टों के संहार के लिए ईश्वर इस पृथ्वी पर अवतार लेते रहते हैं।¹⁵ अवतार, का अर्थ अवतरण अर्थात् ऊपर से नीचे उतरना होता है। ईश्वर निराकार और साकार दोनों है। जब पृथ्वी पर धर्म का क्षय एवं अधर्म का उत्थान होने लगता है और सर्वत्र अव्यवस्था फैल जाती है, तो ईश्वर मनुष्य के रूप में पृथ्वी पर अवतरित होते हैं और धर्म को पुनः स्थापित करने के लिए दुष्टों का संहार करते हैं। हिन्दू धर्म में ईश्वर के अनेक अवतार विभिन्न युगों में पाये जाते हैं। राम, कृष्ण, परशुराम आदि ईश्वर के विभिन्न अवतार ही हैं। अवतारवाद का समर्थन करके हिन्दू धर्म अपने धर्मावलम्बियों में अपार आशा का संचार करता है। अवतारवाद को हिन्दू धर्म के अतिरिक्त अन्य कई धर्मों ने भी स्वीकार किया है। किन्तु हिन्दू धर्म के लिए अवतारवाद एक आवश्यक स्तम्भ माना गया है।

(6) मुक्ति की कल्पना

वैदिक धर्म में मुक्ति (liberation) को परम पुरुषार्थ माना गया है। दुःखों की सदा सर्वदा के लिए निवृत्ति द्वारा 'मोक्ष' प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता है। अन्य धर्मों में स्वर्ग को ही परम पुरुषार्थ माना जाता है। स्वर्ग सुखमय अवस्था का नाम है। किन्तु वैदिक धर्म स्वर्ग को भी नश्वर मानता है। इसके अनुसार, मोक्ष ही जीवन का चरम लक्ष्य

है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को अपनी प्रकृति एवं क्षमता के अनुकूल ज्ञान, भक्ति या कर्म किसी भी मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। गीता में भी ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग एवं भक्ति मार्ग का उल्लेख किया गया है। इनमें से किसी मार्ग पर चलकर व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

(7) आध्यात्मिकता पर जोर

हिन्दू धर्म आध्यात्मिक धर्म (spiritual religion) का सर्वोत्तम उदाहरण है। हमारे वैदिक ऋषि-मुनियों ने सदैव शरीर की अपेक्षा आत्मा को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। भौतिकवाद से आध्यात्मवाद की श्रेष्ठता सभी हिन्दू-विचारकों ने स्वीकार की है। हमें भौतिक साधनों की उपलब्धि के पीछे आत्मा की पुकार को कभी भी टुकराना नहीं चाहिये। हिन्दू धर्म आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है।

धर्म की उत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है। 'धृ' का अर्थ है धारण करना। अतः जो धारण करने योग्य हो वही 'धर्म' है ('धृयते यः स धर्मः')। धर्म का एक दूसरा अर्थ भी है—जो संसार को धारण करे वह धर्म है।

प्रायः धर्म को 'रिलीजन' (Religion) के अर्थ में व्यवहृत किया जाता है; किन्तु दोनों एक नहीं हैं। धर्म का क्षेत्र रिलीजन की अपेक्षा अधिक व्यापक है। 'रिलीजन' व्यक्ति के ईश्वर के प्रति

कर्तव्यों का सूचक है, किन्तु 'धर्म' व्यक्ति के सभी कर्तव्यों का सूचक है। इस प्रकार 'धर्म' शब्द अपने विस्तृत अर्थ में कर्तव्य का पर्यायवाची बन जाता है।

वेद, श्रुति आदि शास्त्रों के अनुकूल आचरण को 'धर्म' और इनके प्रतिकूल आचरण को 'अधर्म' कहा जाता है। श्रुति वेद हैं और स्मृति मनु की लिखी हुई बातें हैं। जिन कर्मों को वेदों और स्मृतियों का समर्थन प्राप्त है, वे धर्म हैं और जिनका निषेध किया जाता है वे अधर्म हैं। धर्म के चार लक्षण बतलाये गये हैं—वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मा को प्रिय होना। नारद स्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में भी इस बात की पुष्टि की गई है।

मीमांसा में 'अलौकिक श्रेयस्—साधन' को धर्म की संज्ञा दी गयी है। वह साधन जिससे निःश्रेयस् अर्थात् आनन्द की प्राप्ति हो। धर्म और अधर्म वेद की विधि और इसके निषेध पर निर्भर करते हैं। इसलिए धर्म को 'चोदना लक्षण' कहा जाता है। 'चोदना' शास्त्रों के आदेशों को कहा गया है। कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर मिश्र ने भी इस बात की पुष्टि की है। इस प्रकार वेदों के आदेश ही धर्म या अधर्म का निर्णय करते हैं।

सांख्य—दार्शनिक धर्म को मानस की एक विशेष वृत्ति मानते हैं। मानस प्रकृति की उपज है। इसलिए धर्म—अधर्म का प्रश्न पुरुष के लिए नहीं रहता। न्याय और वैशेषिक धर्म को

आत्मा का विशेष गुण मानते हैं। इनके अनुसार, धर्म आत्मनिष्ठ (subjective) है, क्योंकि यह अभिप्राय (intention) पर निर्भर है। इसके विपरीत, मीमांसा के अनुसार, धर्म विषयगत (objective) है। मीमांसा का विचार कान्ट (Kant) के 'निरपेक्ष आदेश' (Categorical imperation) से मिलता-जुलता है। डॉ. राधाकृष्णन् ने भी इस बात की पुष्टि की है।

धर्मों का वर्गीकरण (Classification of Virtues)

मनु के अनुसार, धर्म के दो प्रकार हैं—साधारण धर्म और वर्णाश्रम धर्म। साधारण धर्म सभी मनुष्यों के लिए है, जिसका पालन प्रत्येक व्यक्ति को करना पड़ता है। वह धर्म निरपेक्ष (absolute) है। साधारण धर्म हैं— धैर्य, क्षमा, दम, चौर्याभाव, शौच, इन्द्रिय—निग्रह, धृति, विद्या, सत्य और अक्रोध। वर्णाश्रम धर्म सोपक्ष (relative) होते हैं। जिस वर्ण और आश्रम का व्यक्ति होता है उसके उसी के अनुरूप कर्तव्य होते हैं। इसी को 'वर्णाश्रम धर्म' कहते हैं। व्यक्ति के वर्ण और आश्रम पर आश्रित रहने के कारण ही इन धर्मों को सापेक्ष माना जाता है। वर्ण चार प्रकार के हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण का धर्म अध्ययन—अध्यापन, पूजा—पाठ, दान ग्रहण करना इत्यादि है। क्षत्रिय का धर्म देश और समाज की रक्षा करना है। वैश्य का धर्म व्यापार आदि है और शूद्र का धर्म अन्य तीनों वर्णों के लोगों की

सेवा करना है। इसी प्रकार चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासश्रम। ब्रह्मचर्याश्रम में व्यक्ति के धर्म विद्याध्ययन, ब्रह्मचर्य व्रत पालन आदि है। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति के धर्म ये हैं—विवाह करना, सन्तानोत्पत्ति करना एवं अन्य सांसारिक कार्य करना। वानप्रस्थाश्रम में व्यक्ति ईश्वर-भक्ति में रम जाता है। संन्यासश्रम में व्यक्ति सांसारिक माया-मोह का जाल का काट देता है और लोभ, द्वेष, ईर्ष्या, मोह, क्रोध आदि से सर्वथा मुक्त हो जाता है। व्यक्ति को अपने वर्ण एवं आश्रम के अनुकूल ही कर्तव्य पालन करना चाहिए। आचार्य मनु का यह मत ब्रैडले के 'स्थान और उसके कर्तव्य' (my station) से मिलता-जुलता है।

प्रशस्तपाद भी मनु की भाँति दो प्रकार के धर्म मानते हैं—(1) साधारण धर्म जो सबके लिए है और (2) विशेष धर्म—जो वर्ण-विशेष एवं आश्रम-विशेष के लिए है। प्रत्येक व्यक्ति के मनुष्य होने के नाते कुछ धर्म हैं और उसके किसी वर्ण-विशेष तथा आश्रम-विशेष का सदस्य होने के कारण भी कुछ विशेष धर्म हैं। सामान्य धर्म ये हैं—धर्म के प्रति श्रद्धा, अहिंसा, सब जीवों की भलाई, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य इत्यादि। विशेष धर्म दो प्रकार का हैं—वर्णधर्म और आश्रम-धर्म। प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रम के अपने अलग-अलग धर्म हैं। इनका वर्णन ऊपर हो चुका है।

मीमांसा-दर्शन में धर्म के दो प्रकार दीख पड़ते हैं—लौकिक और शास्त्रिक या पारमार्थिक। लौकिक दृष्टार्थ होते हैं, किन्तु पारमार्थिक धर्म अदृष्टार्थक होते हैं। मीमांसा-दर्शन में बतलाया गया है कि किन-किन कार्यों का पालन करना चाहिए और किन-किन कार्यों का परित्याग करना चाहिए। इनके अनुसार, कई प्रकार के धर्म हैं—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध और प्रायश्चित-कर्म। प्रत्येक दिन व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले कर्म नित्य कर्म हैं; जैसे, ध्यान, स्नान, संध्या, पूजा इत्यादि। विशेष अवसर पर किये गये कर्म काम्य कर्म हैं; जैसे, पुत्र प्राप्ति, धन प्राप्ति आदि के लिए यज्ञ, तप, व्रत आदि कर्म। जिन कर्मों के करने का निषेध किया जाता है, उन्हें निषिद्ध कर्म कहते हैं। इनके नहीं करने से पुण्य की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु इनके करने से पाप होता है। निषिद्ध कर्म करने पर उसके फल से बचने के लिए प्रायश्चित-कर्म ही मीमांसा-दर्शन में 'धर्म' माना गया है।

धर्म और कर्तव्य (Virute and Duty)

'कर्तव्य' 'कृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है करना। इस प्रकार, 'कर्तव्य' का अर्थ होता है 'किया जाने योग्य कर्म'। कर्तव्य के साथ 'चाहिए' (ought) का भाव छिपा रहता है। प्रत्येक व्यक्ति का वातावरण और चरित्र अन्य चीजों की अपेक्षा भिन्न होता है। इसलिए देश, काल और पात्र के अनुसार, व्यक्ति के कर्तव्य

निर्धारित होते हैं। अतः किसी देश, काल एवं परिस्थिति में किये जाने योग्य कर्म ही कर्तव्य (duty) कहलाते हैं। लोकमान बाल गंगाधर तिलक ने भी इस बात की पुष्टि की है।

“कर्तव्य धर्म से ही व्युत्पन्न किया जा सकता है। धर्म सामान्य सिद्धान्त-रूप में है और कर्तव्य उन्हीं के अनुसार विशेष कर्म हैं। क्षमा धर्म है; परन्तु किसी विद्यार्थी ने यदि हमारी निन्दा की तो उसे क्षमा कर देना हमारा कर्तव्य है। धर्म से ही कर्तव्य निकलते हैं। दोनों में विरोध नहीं है। कर्तव्य धर्म के विरुद्ध नहीं हो सकता।” इसी प्रकार, धर्म और कर्तव्य में सम्बन्ध दिखलाते हुए कहा जा सकता है—“धर्म और कर्तव्य में अन्तर यह है कि जहाँ धर्म का स्वरूप शाश्वत, नित्य, निरपेक्ष, असीमित और अनन्त है, वहाँ कर्तव्य परिवर्तनशील, देश-काल-सापक्ष, सीमित और परिस्थिति पर आधारित है। कर्तव्य का उत्स भी धर्म ही है, क्योंकि धर्म का प्रमाण मानकर ही कर्तव्य की अनिवार्यता सिद्ध की जा सकती है।”

पुरुषार्थ

‘पुरुषार्थ’ शब्द दो शब्दों के मेल से बना है—‘पुरुष’ और ‘अर्थ’। इसलिए पुरुषार्थ का अर्थ है विवेकपूर्ण क्रिया अर्थात् जो पुरुष के लिए आवश्यक एवं लाभदायक हो। व्यक्ति के कर्मों के लक्ष्य को ही पुरुषार्थ कहा जाता है। जिनके लिए मनुष्य की

चेष्टाएँ होती है, वे ही उसके पुरुषार्थ हैं। डॉ. भगवानदास ने भी इस बात की पुष्टि की है।

हिन्दू-दृष्टिकोण समन्वयवादी है। जीवन की सभी आवश्यकताओं से इसका सम्बन्ध रहता है। यही कारण है कि हिन्दू-विचारकों ने ऐसे आदर्श या साध्य बतलाये हैं, जो सबके लिये समान महत्त्व रखते हैं। यानी वे मनुष्य के इहलोक एवं परलोक दोनों के प्रधान लक्ष्य बन जाते हैं। इन्हीं चार आदर्शों से प्रेरित होकर मनुष्य के सभी व्यापार होते रहते हैं। चार पुरुषार्थ निम्नलिखित हैं— धर्म (virtue), काम (enjoyment), अर्थ (wealth), और मोक्ष (liberation)। अर्थ और धर्म अन्य पुरुषार्थों का उपाय है एवं काम एवं मोक्ष फलात्मक पुरुषार्थ है।

(1) धर्म (Virute)

धर्म का अर्थ 'धारण' करने योग्य कर्म' है। 'धर्म' से यहाँ मनुष्य के उन सभी कर्तव्यों का बोध होता है, जिन्हें शास्त्रों ने सभी मानवीय क्षेत्रों को ध्यान में रखकर निर्धारित किया है। जीवन को धर्ममय होना आवश्यक है। जीवन के सभी क्षेत्रों में कर्तव्यों का समुचित पालन करने वाला व्यक्ति ही सच्चा धार्मिक व्यक्ति है। धर्म जीवन का एक अंश नहीं है, बल्कि यह सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त है। जीवन में धर्म का अत्यधिक महत्त्व है। 'अर्थ'

और 'काम' उसी अंश तक वांछनीय हैं, जिस हद तक इनसे धार्मिक आचरण में मदद मिलती है।

पाश्चात्य परम्परा में 'धर्म' को 'Religion' कहते हैं। रिलिजन शब्द री और लिगरे से बना है। इसका शाब्दिक अर्थ व्यक्ति को व्यक्ति से, समाज को समाज से जोड़ना है। रिलिजन' और 'धर्म' पर्यायवाची नहीं कहे जा सकते। धर्म का क्षेत्र रिलीजन के क्षेत्र से अधिक व्यापक हैं। रिलीजन मनुष्य की केवल धार्मिक भावना को सन्तुष्ट करता है; किन्तु धर्म (virtue) सम्पूर्ण जीवन को सन्तुष्ट करता है। धर्म निःश्रयेस् (मोक्ष) की प्राप्ति का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। यह लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की सिद्धियों में सहायक है। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में, "चार वर्णों और चार अवस्थाओं तथा चारों पुरुषार्थ से सम्बद्ध मनुष्य के विशेष कर्तव्य—समुदाय को धर्म कहा जाता है। प्रो. गैलवे ने रिलिजन की संतोषप्रद परिभाषा दी है। किन्तु यह परिभाषा भारतीय धर्म की परिभाषा से भिन्न है।

मनु ने धर्म के दस लक्षण बतलाये हैं। ये हैं—धैर्य, क्षमा, इन्द्रिय—निग्रह, मानसिक संयम, अन्तर्बाह्यशुद्धि, अस्तेय, धृ, विद्या, सरल और क्रोध का अभाव। ये मनुष्य के साधारण धर्म हैं। मनुष्य के विशेष धर्म भी हैं। इनमें वर्णाश्रम धर्म प्रमुख है। धर्म का ज्ञान कैसे होता है? इसके उत्तर में मनु का कहना है—“वेद, स्मृति,

सदाचार और अपने लिए प्रिय हो—ये ही धर्म के चार लक्षण हैं।” वेदों और उपनिषदों में भी धर्म की विशेष व्याख्या हुई है। डॉ. राधाकृष्णन् एवं रवीन्द्रनाथ टैगोर ने बतलाया है कि जैसे आग का धर्म ताप है, जल का धर्म शीतलता है, चीनी का धर्म मिठास है, उसी प्रकार मनुष्य का धर्म मनुष्यत्व है।

(2) अर्थ (Wealth)

अर्थ, धन या सम्पत्ति जीवन के लिए आवश्यक है। धन के बिना व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकती। जीने की प्रवृत्ति जन्मजात है। इसलिए धन का महत्त्व अत्यधिक है। आज के भौतिक युग में धन ही सर्वस्व है। किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा है— “जिनके पास धन है, वही कुलीन है, वही पंडित है, वही श्रुतवान् और गुणी है, वही दर्शनीय है और स्वर्ण की भाँति उसमें सभी गुण विद्यमान हैं।” धन की महत्ता बतलाते हुए— ‘भर्तृहरि ने धन को ही सभी गुणों की खान माना है। चाणक्य का कथन भी उल्लेखनीय है—“वाणी का लगा हुआ घाव अर्थ से दूर हो जाता है।” इस प्रकार, अर्थ का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

हिन्दू-विचारकों ने अर्थ की महत्ता स्वीकार करते हुए भी इसे परम साध्य (ultimate end) नहीं माना है। अर्थ अपने-आप में महत्त्व नहीं रखता। यह तो निःश्रेयस (मोक्ष) का साधन माना जाता है। रामचरित मानस में भी दरिद्रता को सबसे अधिक

दुःखदायी माना गया है। अर्थात् धन की महत्ता को यहाँ भी स्वीकार किया गया है।

(4) काम (Enjoyment)

‘काम’ को दो अर्थों में प्रयुक्त किया जाता रहा है— सामान्य अर्थ और विशेष अर्थ। सामान्य अर्थ में विषयानुभव— सुख काम है; अर्थात् बाह्य वस्तु जो सुखद प्रतीत हो उसके अनुभव की इच्छा ‘काम’ है, जो चाहा जाय यानी जिसकी विशेष आकांक्षा अथवा इच्छा की जाय। विशेष अर्थ में ‘काम’ का अर्थ इन्द्रियजन्म—सुख (sexual pleasure) ही नहीं, बल्कि मानसिक सुख भी आ जाते हैं। किसी सुखप्रद वस्तु की इच्छा ‘काम’ है। विशेष अर्थ में ‘काम’ का अर्थ— इन्द्रियजन्म—सुख (sexual pleasure) है। इसे कामवासना भी कहा जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में श्री कृष्ण भगवान ने कहा है— बलं बलवतां चाहं कामराग विवर्जितम्। धर्मा विरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ [Arjuna, of the mighty I am the might, free from passion and desire, in beings I am the sexual desire not conflicting with virtue or scriptural injunction.]

हिन्दू धर्म में ‘काम’ को सदैव बृहद् अर्थ में लिया जाता है। इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखते हुए इनको तृप्त करना आवश्यक समझा जाता है। यहाँ इन्द्रियों के दमन की बातें नहीं कही जाती। इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को कुचलने की सलाह

कभी नहीं दी जाती। यौन-सुख (sexual pleasure) का भी अपना कम महत्त्व नहीं है। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में, "हिन्दू धर्म में यौन-जीवन को कभी अनैतिक नहीं माना गया है" ("In Hindu religion, there is nothing unwholesome about the sex life.")

यही कारण है कि हिन्दुओं के महान् देवता ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण आदि ने विवाहित जीवन व्यतीत किया है। हिन्दू धर्म व्यक्ति की वासनाओं एवं इच्छाओं को नियन्त्रित रूप से तृप्त करने का आदेश देता है; किन्तु काम-वासना में आसक्त होने की सलाह नहीं देता। राजा जनक इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। वे संसार में रहकर भी सांसारिकता से ऊपर थे, जिस प्रकार कमल जल में रहते हुए भी जल से अलग रहता है। इसका अर्थ हुआ कि काम-तृप्ति में हमें अपने विवेक को कभी भूलना नहीं चाहिए।

डॉ. भगवानदास के अनुसार काम जीवित व्यक्ति का अन्तर्तम स्वभाव है। वस्तुतः काम मन का प्रधानतम अंग है। सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति में उसका विशेष स्थान है। शिव पुराण में भी काम की सत्ता को स्वीकार किया गया है। धर्म और अर्थ भी इसी में स्थित है। जैसे खल्ली से श्रेष्ठ तेल है, तेल से श्रेष्ठ घी है, उसी प्रकार धर्म और अर्थ से काम श्रेष्ठ है। आधुनिक युग में फ्रायड (Freud) और उसके अनुयायियों ने भी 'काम' को वृहद् अर्थ में लिया है। उन्होंने काम को सभी व्यापारों का आधार

बतलाया है। भारतीय विचारक 'काम' को परम साध्य नहीं मानते। यह तो मोक्ष का एक साधन मात्र है। यों अर्थ काम का साधन है और धर्म मोक्ष का।

(4) मोक्ष (Liberation or Salvation)

चौथा और अन्तिम पुरुषार्थ 'मोक्ष' है। चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय विचारक मोक्ष को जीवन का निःश्रेयस् मानते हैं। मोक्ष के स्वरूप और इसकी प्राप्ति के साधनों के प्रश्न पर विचारकों में मतभेद पाया जाता है। सामान्य अर्थ में मोक्ष एक ऐसी अवस्था है जहाँ दुःखों का पूर्ण अभाव रहता है। कुछ लोगों ने इसे केवल दुःखरहित अवस्था बतलाया है। किन्तु कुछ अन्य विचारकों के अनुसार, इसमें विशुद्ध आनन्द की प्राप्ति होती है। नैयायिकों ने दुःख रहित अवस्था का समर्थन किया है। किन्तु वेदान्तियों ने इसे दुःख रहित और आनन्द की अवस्था अर्थात् दोनों अवस्थाओं को स्वीकार किया है। स्वामी विवेकानन्द ने भी उपर्युक्त बातों की सम्पुष्टि की है।

मोक्ष दो प्रकार का होता है— जीवन मुक्ति और विदेहमुक्ति। जैन, बौद्ध, सांख्य तथा वेदान्त के अनुसार, व्यक्ति इसी जीवन में शरीर धारण करते हुए मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसे ही 'जीवन मुक्ति' कहा जाता है। मृत्यु के बाद मिलने-वाले मोक्ष को 'विदेह मुक्ति' कहते हैं।

हिन्दू-विचारक विश्व में दुःख, पीड़ा एवं अपार कष्ट देखकर तिलिमिला जाते हैं। ये व्यक्ति को सर्वत्र बंधनग्रस्त पाते हैं। बंधन (bondage) ही दुःख का मूल कारण हैं। बंधन स्वयं अविद्या या अज्ञान (ignorance) का परिणाम है। इसलिए दुःखों को दूर करने के लिए सर्व प्रथम अज्ञान का नाश आवश्यक है। यही कारण है कि प्रायः सभी हिन्दू-विचारक अज्ञान का नाश ही बंधन का नाश और मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं। इस प्रकार, मोक्ष (liberation) एक ऐसा आदर्श है जिसके प्राप्त होते ही व्यक्ति जन्म-मरण के चक्कर से सदा सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है। उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

अब प्रश्न है—उपर्युक्त चार पुरुषार्थों में कौन प्रमुख हैं और कौन गौण हैं? स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार, 'काम' का प्रथम स्थान है, तब 'अर्थ' का, तब 'धर्म' का और सबसे अन्त में 'मोक्ष' का। साधारण मनुष्य अर्थ और काम को ही जीवन का परम साध्य मानते हैं। चार्वाक आदि भौतिकवादियों ने अर्थ को साधन और काम को साध्य माना है। किन्तु 'काम' और 'अर्थ' का उपयोग धर्म के अभाव में निन्दनीय माना जाता है। धर्म का पालन करते हुए 'काम' और 'अर्थ' का उपयोग करना चाहिए।

धर्मविहीन काम और धर्मविहीन अर्थ निन्दनीय माने जाते हैं। बिना धर्म के अर्थ और काम को पुरुषार्थ नहीं माना जा

सकता। अर्थ और काम तभी तक पुरुषार्थ हैं, जब तक धर्म की नींव पर इनकी इमारत खड़ी है। आदर्श जीवन के दृष्टिकोण से 'मोक्ष' ही सर्व प्रमुख पुरुषार्थ है, जिसकी प्राप्ति के साधन के रूप में अन्य पुरुषार्थ माने जाते हैं। शंकर और मण्डन मिश्र ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इनमें कुछ पुरुषार्थ उच्च कोटि के हैं और कुछ निम्न कोटि के हैं। इनमें प्रत्येक पुरुषार्थ का अपना अलग महत्त्व है। हिन्दू-विचारक मोक्ष को ही निःश्रेयम् या सर्वोच्च आदर्श मानते हैं।

हिन्दू धर्म में मोक्ष के उपाय की अवधारणा

हिन्दू धर्म के अनुसार, मोक्ष प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। आत्मा एक आध्यात्मिक सत्ता है और शरीर से यह सर्वथा भिन्न एवं स्वतन्त्र है। आत्म-साक्षात्कार ही ईश्वर की प्राप्ति है। आत्मा और परमात्मा दोनों अभिन्न हैं। इस सत्य का ज्ञान मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक है। पूर्णता की प्राप्ति ही सर्वस्व मानी गयी है। ब्रह्मसूत्र में इस बात की पुष्टि की गई है। शंकर माष्य श्रीमद्भगवद् गीता में भी इस बात की सम्पुष्टि की गई है।

मोक्ष वह अवस्था है, जहाँ आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है और जीव सभी प्रकार के कष्टों से मुक्त हो जाता है। डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार, पूर्णता की प्राप्ति होने पर व्यक्ति

असफलता, भय एवं मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। पूर्णता प्राप्त व्यक्ति भौतिक सुखों के प्रति आसक्त नहीं रहता है। क्योंकि वह इनकी अवास्तविकता एवं क्षणभंगूरता को समझ लेता है। वेदान्तसार में भी इस बात की पुष्टि की गई है।

वेदान्त धर्म हिन्दू धर्म का एक अंग है। इनके अनुसार आत्मा और परमात्मा में किसी प्रकार का भेद नहीं है। दोनों की अभिन्नता का ज्ञान ही आत्मज्ञान है। ईश्वरीय शक्ति का ज्ञान आत्मशक्ति का ज्ञान है। आत्मसाक्षात्कार होने पर व्यक्ति स्वतन्त्र, असीम एवं सर्वशक्तिशाली हो जाता है और उसे असीम शान्ति एवं सुख की अनुभूति होती है। इस प्रकार, हिन्दू धर्म के अनुसार आत्मसाक्षात्कार (Self-realisation) और ईश्वर-साक्षात्कार (God-realisation) दोनों एक ही हैं और इनकी सिद्धि ही चरम लक्ष्य है। वाचस्पति मिश्र ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है। भामती चतुसूत्री में इस बात की विस्तृत चर्चा की गई है। करपात्री जी महाराज ने वेदार्थपरिजात में इसकी सम्यक् विवेचना प्रस्तुत की है।

डॉ. राधाकृष्णन् ने हिन्दू धर्म के मोक्ष-सम्बन्धी विचारों की व्याख्या एक नये ढंग से प्रस्तुत की है। इनके अनुसार, व्यक्तिगत मोक्ष (individual salvation) आवश्यक रूप से सांसारिक मोक्ष (cosmic salvation) से जुड़ा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति

को अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानता है। व्यक्ति-विशेष के मुक्त हो जाने से ही चरम लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो जाती। जब प्रत्येक व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेता है, तो संसार भी मुक्त हो जाता है। समस्त संसार का मोक्ष ही जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए। यही कारण है कि डॉ. राधाकृष्णन् व्यक्तिगत मोक्ष के स्थान पर समस्त संसार के मोक्ष को प्रश्रय देते हैं। हिन्दूधर्म में डॉ. राधाकृष्णन् की यह अनुपम देन है। इन्होंने शंकर के मत की समीचीन विवेचना की है।

चरम लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग (Paths leading to the attainment of the supreme goal of life)

हिन्दू धर्म केवल चरम लक्ष्य का चित्रण करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, बल्कि इसकी प्राप्ति के लिए उचित मार्ग भी बतलाता है। इसमें समाधि का अधिक महत्त्व है। साधु शान्तिनाथ ने ठीक ही लिखा है – All religions are based on dogmas. From the above discussion of Samadhi, it is clear that the claim of realization of truth on reaching the goal during that state is uniformed. हिन्दू धर्म में चार प्रकार के मार्ग इसके लिए आवश्यक बतलाये गये हैं—

1. राजयोग (The path of concentration)
2. ज्ञानयोग (The path of knowledge)
3. कर्मयोग (The path of action)

4. भक्तियोग (The path of devotion)

1. राजयोग (The path of Concentration)

हिन्दू धर्म के अनुसार, आत्मा को शरीर या मन का पर्याय मानना ही बन्धन (bondage) का मूल कारण है। अज्ञानवश व्यक्ति आत्मा को शरीर, मन या इन्द्रियों से अभिन्न मान लेता है और बन्धनग्रस्त हो जाता है। आत्मा को अनात्मा (not-self) से पृथक् करना मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक है। ऐसा करना आध्यात्मिक अभ्यास द्वारा ही सम्भव है। स्वामी विवेकानन्द ने अपनी पुस्तक राजयोग में इस की बात की सम्पुष्टि की है। पतंजलि का योग ही राजयोग है। हिन्दू धर्म में राजयोग का अर्थ होता है— चित्तवृत्तियों का निरोध। इस योग के आठ सोपान हैं जिन्हें अष्टांगिक योग कहते हैं। ये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस बात की पुष्टि की गई है।

यम— बाह्य एवं आन्तरिक इन्द्रियों के नियन्त्रण को ही 'यम' कहते हैं। यम पाँच प्रकार के हैं—(1) सत्य, (2) अहिंसा, (3) अस्तेय, (4) ब्रह्मचर्य और (5) अपरिग्रह।

नियम— सदाचार का पालन ही 'नियम' है। ये पाँच हैं—(क) शौच (purity), (ख) सन्तोष (contentment), (ग) तपस

(penance), (घ) स्वाध्याय (study) और (ङ.) ईश्वर—प्रणिधान (contemplation of God)।

यम और नियम में मुख्य अन्तर यह है कि यम अभावात्मक हैं; किन्तु नियम भावात्मक हैं।

आसन— शरीर का मुद्रा—विशेष में रखना ही आसन है। ध्यान को स्थिर रखने में इनसे काफी मदद मिलती है।

प्राणायाम— श्वास—प्रक्रिया को नियन्त्रण में रखना ही प्राणायाम है। इससे मन और शरीर को दृढ़ता मिलती है। प्राणायम तीन प्रकार का है—‘पूरक’— (गहरी साँस लेना), ‘कुम्भक’ (श्वाँस को भीतर रोकना) और ‘रेचक’ (श्वाँस को बाहर निकालना)।

प्रत्याहार— प्रत्याहार का अर्थ इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर मन के अधीन रखना है। अनवरत अभ्यास, दृढ़ संकल्प एवं इन्द्रिय—निग्रह द्वारा ही प्रत्याहार की प्राप्ति सम्भव है।

धारणा— चित्त को अन्य सभी वस्तुओं से हटाकर अभीष्ट विषय पर केन्द्रित करना ही ‘धारणा’ है।

ध्यान— अभीष्ट विषय का अनवरत अनुशीलन ही ध्यान है। पतंजलि कृत योगसूत्र में उपर्युक्त सभी अंगों से ध्यान को अधिक महत्व प्रदान किया गया है।

समाधि— इस अवस्था में आत्मचेतना लुप्त हो जाती है। ध्येय वस्तु की चेतना ही यहाँ बच जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर चित्तवृत्ति का पूर्ण निरोध हो जाता है। हिन्दू धर्म में समाधि की दो अवस्थाएँ मानी गयी हैं—(1) सम्प्रज्ञात समाधि— जिसमें ध्येय विषय की स्पष्ट चेतना रहती है और (2) असम्प्रज्ञात समाधि— इसमें ध्यान का विषय गायब हो जाता है। इस अवस्था में आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। यही मोक्ष की अवस्था है। करपात्रीजी महाराज ने अपने ग्रन्थ वेदार्थपरिजात में भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

(2) ज्ञानयोग (The path of Knowledge)

व्यक्ति अज्ञानवश अपने—को शरीर समझने के कारण बन्धनग्रस्त होकर अनेक कष्ट झेलता है। उसकी दूषित दृष्टि को शुद्ध करना ही ज्ञानयोग है।

ज्ञान दो प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है— (1) साधारण या वैज्ञानिक रूप से और (2) आध्यात्मिक रूप से। इस प्रकार, ज्ञान दो प्रकार का हो जाता है— साधारण ज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान। बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान ही साधारण या वैज्ञानिक ज्ञान है। यह ज्ञान बाह्य उपाधियों पर आश्रित है। इससे ईश्वर का ज्ञान नहीं मिल सकता। आध्यात्मिक ज्ञान आन्तरिक शक्ति के विकास द्वारा सम्भव है। इसके लिए ज्ञानेन्द्रियों को बाह्य पदार्थों

से विमुख कर एक प्रकार की आन्तरिक दृष्टि अपनाना आवश्यक है। डॉ. राधाकृष्णन् और मोहम्मद इकबाल ने भी बुद्धि की तुलना में अन्तर्दृष्टि अथवा अन्तःबोध को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है।

ज्ञानमार्ग की ये निम्नलिखित सीढ़ियाँ हैं—(1) शरीर, मन और इन्द्रियों की शुद्धि। योग में व्यक्ति को अपने-आपको ईश्वर में विलीन करना पड़ता है। ईश्वर अशुद्ध एवं अपवित्र वस्तुओं को ग्रहण नहीं कर सकता। हम अपने शरीर, मन एवं इन्द्रियों को शुद्ध बनाकर ही ईश्वर के सम्मुख प्रस्तुत हो सकते हैं। (2) ईश्वर पर आत्मा का ध्यान केन्द्रित रखना आवश्यक है। (3) आत्मा और ईश्वर में तादात्म्य (identity) स्थापित होना आवश्यक है। जब साधक को आत्मज्ञान हो जाता है, तो उसे यह भी ज्ञान हो जाता है कि आत्मा ईश्वर का ही एक अंश है और इन दोनों में तादात्म्य-सम्बन्ध है। उपर्युक्त तीनों सोपानों के अतिरिक्त गीता में श्रद्धा (faith) पर भी जोर दिया गया है। साधक को ज्ञानमार्ग पर अग्रसर होने के लिए ईश्वर में अगाध श्रद्धा रखना भी आवश्यक है। लोकमान बाल गंगाधर तिलक ने भी इस बात की पुष्टि की है।

कुछ आलोचक ज्ञानमार्ग को एकांगी (one tity) बतलाते हैं। किन्तु यह आलोचना निराधार है। जब व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर

लेता है तो उसे सम्पूर्ण आत्मज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान सर्वांग ज्ञान है। इसे एकांगी या सीमित कहना सर्वथा अनुचित है।

ज्ञान की पुष्टि के लिए गीता योगाभ्यास का आदेश देती है। किन्तु इसका यह स्पष्ट आदेश है कि योगाभ्यास अलौकिक शक्तियों की सिद्धि के लिए नहीं बल्कि मोक्ष प्राप्ति के लिए होना चाहिए। जगत् गुरु शंकर एवं स्वामी विवेकानन्द ने भी इस बात सम्पुष्टि की है।

ज्ञान अमृत की प्राप्ति कराता है। इससे कर्मों की अपवित्रता नष्ट होती और साधक ईश्वरमय हो जाता है। भगवान् श्री कृष्ण ने ज्ञानी को सर्वश्रेष्ठ भक्त माना हैं। ईश्वर का ज्ञान ही उसका सच्चा आराधक है।

3. भक्तिमार्ग (The path of Devotion)

भक्ति की उत्पत्ति 'भज्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है ईश्वर की सेवा। नारद के अनुसार, भक्ति अतिशय प्रेम है। गीता में भक्ति का प्रयोग बृहद् अर्थ में हुआ है। इसके लिए तीन आवश्यक तत्त्व बतलाये गये हैं—(1) प्रेम (love), (2) श्रद्धा (faith) और (3) आराध्य और आराधक का एकाकार होना। प्रेम और श्रद्धा हर प्रकार की भक्ति में पाये जाते हैं। साधारण भक्ति में साधक और साध्य का द्वैत रह जाता है। किन्तु गीता की भक्ति

में भक्त और ईश्वर दोनों एक हो जाते हैं। भक्त अपने को आराध्य देव में विलीन कर देता है।

भक्ति-योग के निम्नलिखित प्रमुख आधार हैं—(1) ईश्वर में अटूट श्रद्धा एवं प्रेम का रहना। श्रद्धा और प्रेम भक्ति के आवश्यक तत्त्व हैं। (2) भक्त के लिए ईश्वर ही सर्वस्व है और वह प्रेममय है। (3) भक्त को ईश्वर विश्व के कण-कण में व्याप्त दीख पड़ता है। वह सदैव 'वासुदेवः सर्वम् इति' का अनुभव करता है। (4) भक्त अन्य सभी विषयों से अपना ध्यान हटाकर एक ईश्वर में तल्लीन हो जाता है। (5) भक्त में नम्रता का गुण आवश्यक है। उसे अपने को ईश्वर के सम्मुख अत्यन्त तुच्छ मानना चाहिए। (6) अपने को ईश्वर में विलीन कर देना ही भक्त का लक्ष्य रहता है। भक्त सदैव ईश्वर में ही रमा रहता है। ईश्वर के सिवा किसी अन्य विषय की ओर वह आकृष्ट नहीं होता है। (7) भक्ति मूलतः 'प्रेम' है, इसलिए इसे स्त्री-रूप कहा जा सकता है। 'प्रेम-सा' स्त्रियों को ही कहा जाता है। राधा इसकी ज्वलन्त उदाहरण है। यही कारण है कि भक्तिमार्गी (चैतन्य आदि) ईश्वर से स्त्री की भाँति प्रेम करते देखे जाते हैं। अभी भी मथुरा में सखी सम्प्रदाय दृष्टिगत होता है। भक्ति की भावना अनिर्वचनीय है। शब्दों के माध्यम से भक्ति की व्याख्या नहीं हो सकती।

भक्तिमार्ग के कुछ नियम ये हैं—(1) भक्त में सर्वप्रथम श्रद्धा और प्रेम का रहना आवश्यक है। (2) ईश्वर को एक मानते हुए भी अन्य देवी—देवताओं की आराधना से शुद्धता आती है। (3) ईश्वर की भक्ति, उसके ज्ञान एवं प्रेम की पूजा के सिवा अन्य विचारों को मस्तिष्क से दूर हटाना आवश्यक है। (4) ईश्वर की स्तुति, ईश्वर—कीर्तन आदि में व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से तल्लीन रहना पड़ता है (5) प्रत्येक कर्म ईश्वर के नाम पर करने से भक्त अपने कर्मफल से उदासीन होकर तुच्छ स्वार्थ से ऊपर उठ जाता है। (6) ईश्वर को सभी वस्तुओं में विद्यमान पाकर भक्तों में क्षमा एवं सहानुभूति के भाव उमड़ने लगते हैं। (7) सबसे अन्त में, भक्त शान्त चित्त होकर ईश्वर को आत्मसमर्पण कर देता है।

गीता में भक्तिमार्ग को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। भगवान् कृष्ण अपने भक्तों की रक्षा के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। "यदि कोई व्यक्ति हमारी ओर प्रेमपूर्वक आत्मसमर्पण करता है तो वह पापी भी पुण्यात्मा बन जाता है। भक्त मेरे प्रेम का पात्र है। भक्तिमार्ग सबके लिए सुलभ है। इस मार्ग का अनुशरण करके कोई भी व्यक्ति अपने को पूर्ण (perfect) बना सकता है। रामानुज, चैतन्य महाप्रभु, सन्त ज्ञानेश्वरी, मीरा, तुलसीदास आदि ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

4. कर्ममार्ग (The Path of Action)

हिन्दू धर्म में कर्मयोग का विशेष महत्त्व है। विभिन्न हिन्दू धर्म ग्रंथों में 'कर्म' (action) के विभिन्न अर्थ बतलाये गये हैं। वेदों में यज्ञ, बलि इत्यादि को कर्म कहा गया है। उपनिषद् के अनुसार, कर्म सत्य की प्राप्ति का एक साधन है। बौद्ध एवं जैन दर्शन में कर्म का अर्थ शुद्धाचरण है। आस्तिक (ईश्वरवादी) दर्शन ईश्वर की आराधना को ही कर्म की संज्ञा देते हैं। गीता में वर्णित कर्म अत्यन्त व्यापक है इसमें कर्म के उपर्युक्त सभी लक्षण विद्यमान हैं। लोकमान बाल गंगाधर तिलक ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म के निम्नलिखित लक्षण बतलाये गये हैं—

- (1) कर्म करना जीव का स्वाभाविक धर्म है। अकर्म या नैकर्म (abstinence from activity) को जीव का धर्म नहीं कहा जा सकता।
- (2) शुद्ध कर्म व्यक्तिगत स्वार्थ से परे होते हैं। सबमें ईश्वर का वास होने के कारण हमें सम्पूर्ण विश्व के लिए कर्म करना चाहिए।
- (3) कर्मफल की आशा रखे बिना ही कर्म करना चाहिए।
- (5) कर्म करते समय इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखना आवश्यक है। इन पर नियन्त्रण रखकर इन्हें उचित मार्ग पर लाना चाहिए। इनका दमन अवांछनीय है।
- (6) गीता का आदर्श त्याग है, न कि संन्यास। संन्यासी अपनी इन्द्रियों का दमन करके मन और

इन्द्रियों के लोक से भाग खड़ा होता है। त्याग (sacrifice) का अर्थ है— कर्मफल की आशा छोड़कर बाह्य इन्द्रियों और मन को शुद्ध बनाना। गीता में इसी 'त्याग' पर जोर दिया गया है। (7) गीता में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का सुन्दर संगम पाया जाता है। (8) कर्म सदैव सत्य एवं धर्म के लिए होना चाहिए। असत्य एवं अधर्म के विरोध में कर्म करना आवश्यक है। (9) ईश्वर में विश्वास रखकर एवं समझ-बूझकर कर्म करना चाहिए। (10) वेदों में बतलाये गये कर्मों (यज्ञ, बलि इत्यादि) के करने से चरित्र शुद्ध होता है। अतः इन्हें करना आवश्यक है। (11) वर्णाश्रम धर्म के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म अवश्य पालन करना चाहिए। इस प्रकार, कर्मयोग के पालन से व्यक्ति आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त कर सकता है। लोकमान बाल गंगाधर तिलक आदि ने भी इस बात की पुष्टि की है।

गीता में वर्णित मुख्य तीन मार्गों (ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग) में परस्पर कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार एक ही लक्ष्य की सिद्धि के लिए विभिन्न मार्ग अपनाये जाते हैं, उसी प्रकार ईश्वर-प्राप्ति के लिए तीनों मार्ग अपनाये जाते हैं। ज्ञान, भक्ति और कर्म मनुष्य के जीवन के तीन अंग हैं। इसलिए तीनों आवश्यक हैं। साधक अपनी अभिरुचि एवं मनोवृत्ति के अनुसार इनमें से कोई भी मार्ग अपना सकता है। विश्व के सभी लोग एक

ही प्रवृत्ति के नहीं हैं। कुछ लोगों में ज्ञान की प्रधानता है, तो कुछ लोगों में भक्ति की प्रधानता है और कुछ लोगों में कर्म की प्रधानता रहती है। भावना—प्रधान लोगों के लिए गीता में भक्तियोग का उपदेश दिया गया है। कर्म—प्रधान लोगों के लिए कहा गया है कि निष्काम कर्म ईश्वर की आराधना के तुल्य है।

ज्ञानियों के लिए गीता, सूक्ष्म—बुद्धिजन्य ब्रह्म, जीव—जगत् सम्बन्धी तत्त्वों को जानने का उपदेश देती है। मुक्ति की अवस्था में ईश्वर की वास्तविकता का 'ज्ञान' भी रहता है, ईश्वर के लिए अपार 'प्रेम' भी रहता है और उसी के अनुकूल 'कर्म' भी करना पड़ता है। इस प्रकार, तीन मार्गों में कोई विरोध नहीं है। रामानुज ने तीनों में सामंजस्य स्थापित किया है। कुछ लोग मानते हैं कि ज्ञान योग और कर्म योग में विरोध है, किन्तु भक्ति स्कूल्स ऑफ वेदान्त बाय स्वामी टोपाज में बतलाया गया है— “There is thus no opposition between Karmayoga and Jhanayoga in Ramanuja's doctrine. They are mutually complementary.” निष्काम को 'अनासक्ति—योग' (the yoga of detachment) कहते हैं। गीता में भक्ति, ज्ञान एवं कर्म का मणि—कांचन संयोग पाया जाता है। डॉ. राधाकृष्णन् ने भी इस बात की पुष्टि की है।

भगवान् श्री कृष्ण (गीता में) कर्मयोग की विशद् व्याख्या करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को कर्मशील रहना चाहिए।

मानव-जीवन के दो लक्ष्य हैं-आत्मलाभ और लोकसंग्रह। आत्मलाभ ईश्वर-लाभ है। इसके लिए व्यक्ति को सतत् कार्यशील रहना पड़ता है। आत्मलाभ के बाद व्यक्ति लोक-संग्रह अर्थात् लोक कल्याण के लिए कर्म करता है। इसीलिये यहाँ बतलाया गया है- "सर्वभूतहितेःरताः" ईश्वर के स्वभाव से ही इस लोक या विश्व की उत्पत्ति हुई है। वह इसकी रक्षा करता है। व्यक्ति को भी विश्व एवं मानव-समाज की रक्षा के लिए कर्म करने रहना चाहिए। राजा जनक (विदेह) आदि का उदाहरण इसीलिये दिया गया है। कर्म से संन्यास लेना अवांछनीय है। कर्म की महत्ता सिद्ध करने के लिए गीता में दिये गये निम्नलिखित प्रमाण उल्लेखनीय हैं-

1. "बिना कर्म किये कोई स्वातन्त्र्य-लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। कर्म-संन्यास से संन्यास की सिद्धि नहीं मिल सकती।"
2. "कोई भी पुरुष किसी काल में क्षणभर भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता, क्योंकि प्राकृतिक गुण से ही सभी का हृदय कर्म के वशीभूत है।"
3. "शरीर-यात्रा भी बिना कर्म किये नहीं हो सकती।"
4. "कर्म सृष्टि का नियम है। जो इस नियम का उल्लंघन करता है, वह व्यर्थ जीवित है।"

5. "लोक-संग्रह (समाज की सुरक्षा) के लिए भी कर्म करना आवश्यक है।"
6. "यदि कोई अकर्मी, निष्कर्मी हो जाए तो अन्य लोग उसका अनुशरण करके निष्कर्मी बन जायेंगे। इस प्रकार जब सभी लोग अकर्मी बन जायेंगे तो समाज का सत्यानाश हो जायगा। इसको बचाने के लिए स्वयं ईश्वर भी कर्म करता है, मनुष्य की तो बात ही क्या!"
7. "जिसको आत्मलाभ मिल गया है, उस ज्ञानी के लिए कर्म और अकर्म सब बराबर हैं; पर उसे भी कर्म करना चाहिए। राजा जनक आजीवन कार्यरत रहे हैं।

अब प्रश्न है—मनुष्य को कौनसा कर्म करना चाहिए? गीता के अनुसार, हमें अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल ही कर्म करना चाहिए। हमें दूसरे वर्ण के धर्म का पालन करने की आवश्यकता नहीं है। "अपने धर्म पर मर जाना भी श्रेय है, किन्तु दूसरे का धर्म भय देने वाला है। अपना कमजोर धर्म भी दूसरे के श्रेष्ठ धर्म से अच्छा है।"

कर्म, अकर्म तथा विकर्म में अन्तर समझकर व्यक्ति को यथोचित कार्य करना आवश्यक है। श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कार्य 'कर्म' कहे जाते हैं। शास्त्रों द्वारा निषिद्ध कार्य ही 'विकर्म' है।

कार्य से पूर्ण विरक्ति ही 'अकर्म' है। व्यक्ति को कर्म करना आवश्यक है।

अब प्रश्न है—कर्म' की ओर प्रवृत्ति कैसे हो? काम—वासना व्यक्ति के ज्ञान पर पर्दा डाल देती है और उसे कर्म करने नहीं देती। अतः इस काम—वासना पर विजय पाना अनिवार्य माना गया है।

“विषयो (इन्द्रियों द्वारा अनुभूत वस्तुओं) पर ध्यान करने से व्यक्ति उनमें आसक्त हो जाता है। आसक्ति काम (भोग की इच्छा) उत्पन्न करती है। काम, क्रोध उत्पन्न करता है। क्रोध से मोह उत्पन्न होता है। मोह से स्मृति नष्ट होती है। स्मृति के नाश होने से बुद्धि नष्ट हो जाती हैं और उसके बाद सत्यानाश हो जाता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि काम—भावना ही सत्यानाश का कारण है। काम को जीतने के लिए सर्व प्रथम इन्द्रियों (sense organs) को नियन्त्रित करना आवश्यक है। काम—इच्छा से उत्पन्न सभी विषयों से मन को हटाकर उसे बुद्धि में स्थिर करना चाहिए और अन्त में उसे आत्मनिष्ठ बनाना चाहिए। यह प्रक्रिया अत्यन्त कठिन है; किन्तु सतत् अभ्यास एवं वैराग्य से सफलता सम्भव है। जब तक पूर्ण सफलता न मिल जाय तब तक प्रयत्न करके आत्म संयम (self-control) करना चाहिए। कल्याण के मार्ग के पथिक की

कभी दुर्गति नहीं होती। यदि वे मार्ग से भटक भी जायें तो भी सामान्य मानव से वे बेहतर रहते हैं।

गीता कर्मवाद और संन्यासवाद में समन्वय स्थापित करती है। कर्मवाद प्रवृत्ति पथ है और संन्यासवाद निवृत्ति पथ। इन दोनों को मिलाकर गीता 'निष्काम कर्म' का उपदेश देती है। "कर्मों के संन्यास से निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है। कर्म करना ही तुम्हारा अधिकार है, न कि कर्मफल। कभी भी कर्मफल को अपना हेतु मत बनाओ। कभी अकर्म में अपनी आसक्ति न रखो।" कर्मफल की आशा रखे बिना हमें कर्म करना चाहिए। कर्मवाद की फलाकांक्षा और अकर्मवाद की आकर्मण्यता दूर करने से 'निष्काम कर्मवाद' बनता है। गीता में स्पष्ट कहा गया है— "फल की वासना रखने वाले अत्यन्त दीन हैं। अपने समस्त कर्मों तथा उसके परिणामों को ईश्वर में अर्पित करके आशारहित और ममतारहित होकर अनासक्त भाव से काम करना चाहिए। निष्काम कर्म गीता की अमूल्य भेंट है।" लोकमान्य तिलक के अनुसार 'कर्मयोग' गीता का सार (essence) है। रामानुज के अनुसार भक्तियोग ही गीता का सार है। शंकर की दृष्टि में ज्ञानयोग गीता का सार है। डॉ. एस.राधाकृष्णन् ने यथास्थान तीनों के महत्त्व को स्वीकार किया है।

गीता की भाँति पाश्चात्य विचारक काण्ट (Kant) ने भी 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' (duty for duty's sake) करने की सलाह दी है। 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' का अर्थ है कि हमें किसी फल की आशा रखकर कर्त्तव्य नहीं करना चाहिए, बल्कि उसे कर्त्तव्य जानकर करना चाहिए। हमें यह सोचकर कोई कार्य नहीं करना चाहिए कि इससे फल मिलेगा, बल्कि उसे कर्त्तव्य जानकर करना चाहिए। रसेल, फलकेनबर्ग, फ्रैंक थिली ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।

साधारण मानव कर्त्तव्य-पालन तीन प्रकार से कर सकते हैं—(1) प्रवृत्तियों या वासनाओं के अधीन होकर कर्त्तव्य-पालन करना; जैसे, माँ का बच्चे के प्रति कर्त्तव्य या दयालु लोगों का दीन-दुःखियों के प्रति कर्त्तव्य। (2) स्वार्थवश कर्त्तव्य-पालन; जैसे, उपकार के प्रति प्रत्युपकार करना। (3) कर्त्तव्य-भावना के वश होकर कर्त्तव्य-पालन

जर्मन दार्शनिक काण्ट (Kant) ने 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्यों' को कर्त्तव्यों की भावना या श्रद्धा (reverence) कहा है। गीता इस कर्त्तव्य-भावना को सात्त्विक श्रद्धा कहती है। गीता के सत्रहवें अध्याय में श्रद्धा-त्रय-विभागयोग पाया जाता है। यहाँ 'कर्त्तव्यों के लिए कर्त्तव्य' की पूर्ण विवेचना हुई है। यज्ञ, तप और दान क्रमशः सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भावना से किये जाते हैं। गीता

के अनुसार, सात्विक कर्म वे हैं जो नियत कर्तव्यों की भावना से आसक्ति एवं फलाशा छोड़कर किये जाते हैं। कर्तव्य के लिए कर्तव्य करना सात्विक कर्म है। राजसिक और तामसिक कर्म अशुभ हैं। राजसिक तप कुछ पाने के लिये किया जाता है और तामसिक तप और दान दूसरे को क्षति पहुँचाने के लिये किया जाता है। इसलिये इसे अशुभ माना गया है।

गीता और काण्ट के विचारों में काफी समानता दीख पड़ती है। काण्ट 'कर्तव्य-भावना' पर जोर देते हैं तो गीता 'निष्काम कर्म' पर जोर देती है। दोनों ही स्वीकार करते हैं कि हमें वासनाओं का परित्याग करके कर्म करना चाहिए। दोनों ही के अनुसार, कर्म का नैतिक गुण कर्त्ता की बुद्धि के अधीन है। दोनों ही व्यक्ति की महत्ता पर जोर देते हैं। दोनों ही के अनुसार, स्वतन्त्र संकल्प (free will) महत्त्वपूर्ण हैं। गीता का कहना है 'जैसा तुम चाहते हो, वैसा करो' (यथेच्छसि तथा कुरु)। काण्ट का भी कहना है—'तुम चाहते हो इसलिए तुम कर सकते हो' (Thou wilt's therefore thou can'st) दोनों ही के अनुसार, विषय-वासनाओं से पूर्ण छुटकारा ही वास्वविक स्वतन्त्रता है। इन्द्रियों पर निर्भरता को दोनों ने ही खतरनाक माना है। काण्ट व्यावहारिक बुद्धि (practical reason) को महत्त्वपूर्ण मानते हुए निरपेक्ष आदेश (categorical imperative) का सिद्धान्त प्रतिपादित

करते हैं। गीता कर्म के क्षेत्र में व्यावसायिक बुद्धि को महत्त्वपूर्ण मानती है। दोनों ने लोक कल्याण को ही कर्मों का आधार माना है।

उपर्युक्त समानताओं के बावजूद दोनों में निम्नलिखित अन्तर है—

- (1) गीता की नीति ब्रह्मविद्या पर आधारित है; किन्तु काण्ट की ब्रह्मविद्या नीतिविद्या पर निर्भर है। लोकमान बाल गंगाधर तिलक ने भी इस बात की पुष्टि की है।
- (2) काण्ट किसी भी प्रकार के अपवाद को नहीं मानते। परन्तु गीता परिस्थिति के अनुसार नैतिकता में परिवर्तन स्वीकार करती है। काण्ट के शब्दों में, "ऐसा काम करो कि तुम सार्वभौम नियम बना सको।" सार्वभौमिकता का विचार किसी प्रकार के अपवाद के लिए कोई जगह नहीं छोड़ता। गीता परिस्थिति के अनुसार, हिंसा को भी धर्म की कोटि में रखती है। भगवान् कृष्ण द्वारा अर्जुन को युद्ध का उपदेश दिया जाना नीतियुक्त है। डॉ. राधाकृष्णन् एवं ओशो रजनीश ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है।
- (3) गीता और काण्ट शुद्ध बुद्धि (pure reason) को श्रेष्ठ मानते हैं। फिर भी, गीता की शुद्ध बुद्धि, काण्ट की शुद्ध बुद्धि

से अधिक व्यावहारिक (practical) है। महात्मा गांधी ने भी इस बात की समर्थन किया है।

- (4) काण्ट इन्द्रियों के दमन का आदेश देते हैं। इसलिए इनके दर्शन को कठोरतावाद (rigorism) कहते हैं। इसके विपरीत, गीता इन्द्रियों के दमन का आदेश न देकर उनके नियन्त्रण पर जोर देती है। इन्द्रियों का दमन न करके इन्हें उचित मार्ग पर लाना आवश्यक है। सन्त ज्ञानेश्वरी एवं डॉ. राधाकृष्णन् ने भी इस बात का जोरदार समर्थन किया है।
- (5) काण्ट की नीति रिक्त एवं खोखली है। यह विषय रहित है। यही कारण है कि इसे 'रूपात्मवाद' (formalism) बतलाकर इसकी घोर आलोचना हुई है। इसके विपरीत, गीता के कर्मयोग का एक विशेष उद्देश्य है—“चित शुद्धि, लोकसंग्रह एवं मोक्ष प्राप्ति।” इसलिये इसकी प्रासंगिकता अभी भी कायम है।
- (6) काण्ट की नीति केवल ज्ञान प्रधान है; किन्तु गीता की नीति में ज्ञान, भक्ति एवं कर्म का अभूतपूर्व समन्वय हुआ है। गीता का नीति शास्त्र आत्मपूर्णतावाद (perfectionism) के अधिक निकट जान पड़ता है। काण्ट का बुद्धिवाद गीता की समन्वयवादी नीति की एक कड़ी मात्र है।

- (7) गीता के अनुसार, मोक्ष आदर्श है, जिसकी प्राप्ति में नैतिकता महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करती है। इसके विपरीत, काण्ट (Kant) नैतिकता को ही एक मात्र आदर्श मानते हैं।
- (8) गीता में निश्चित कर्मों की व्याख्या की गयी है, भले ही वे आजकल मान्य एवं ग्राह्य न हों। किन्तु, काण्ट ने निश्चित रूप में कर्तव्य-कर्मों की कोई व्याख्या नहीं की है।
- (9) काण्ट ईश्वर की प्राप्ति को संभव नहीं मानते; किन्तु गीता के अनुसार ईश्वर की प्राप्ति संभव है। काण्ट का ईश्वर केवल उपयोगी कल्पना और आदर्श मात्र है। काण्ट की तुलना में गीता की आत्मलाभ सम्बन्धी अवधारणा अधिक सुगम है।

गीता का निष्काम कर्म काण्ट के कर्तव्य-भाव से काफी हद तक समान होते हुए भी अधिक श्रेष्ठ है। भारतीय जीवन में निष्काम कर्म का उल्लेखनीय महत्त्व है। स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ, तिलक, गाँधी, अरविन्द, विनोबा, स्वामी सहजानन्द सरस्वती आदि विद्वानों ने निष्काम कर्म पर पूर्ण प्रकाश डाला है।

हिन्दू धर्म में नैतिकता का स्थान अथवा महत्त्व

अक्सर माना जाता है कि हिन्दू धर्म में नैतिकता का अभाव बतलाया जाता है। ऐसा विचार कुछ आधुनिक पाश्चात्य

विचारकों का है। डॉ. स्वीट्जर (Dr. Sweitzer) ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि ईसाई धर्म में जीवन और जगत् को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है; किन्तु हिन्दू धर्म में जीवन और जगत् को मिथ्या बतलाकर इनकी उपेक्षा की गयी है। इनके अनुसार, हिन्दू धर्म में नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। इसे सिद्ध करने के लिए उन्होंने निम्नलिखित प्रमाण दिये हैं:—

- (1) हिन्दू धर्म में इस लोक के स्थान पर परलोक का समर्थन किया गया है। हिन्दुओं के लिए यही संसार एक मात्र संसार नहीं है। इसके अतिरिक्त कई अन्य लोक भी हैं, जो इस लोक से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दू अपने को इस लोक की अपेक्षा परलोक का नागरिक मानने में बड़प्पन अनुभव करता है। इसलिए डॉ. स्वीट्जर (Dr Sweitzer) ने इस धर्म को पारलौकिक (other-worldly) बतलाया है। इसके विपरीत, ईसाई धर्म इस विश्व को ही सर्वस्व मानकर सदैव सक्रिय रहने की सलाह देता है। नैतिकता (morality) इसी विश्व तक सीमित है। इसका प्रयोग परलोक (other world) के लिए करना अनुचित है। इस आधार पर हिन्दू धर्म में नैतिकता का अभाव बतलाया गया है।

- (2) मानववादी नैतिकता और पारलौकिकता में परस्पर विरोध है। दोनों एक साथ सत्य हो सकते। इस अर्थ में हिन्दू धर्म को नैतिक (ethical) नहीं कहा जा सकता।
- (3) हिन्दू धर्म 'मायावाद' (Theory of Maya) में विश्वास रखता है। इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व माया या भ्रम मात्र है। ऐसे विश्व में नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं रहता।
- (4) हिन्दू धर्म के अनुसार, 'मोक्ष' (salvation) ही चरम लक्ष्य है। मोक्ष की प्राप्ति का मुख्य साधन ज्ञान माना गया है। आत्मज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र साधन नहीं रहता।
- (5) हिन्दू धर्म पलायनवाद (escapism) का उपदेश देता है। जीवन और जगत् से दूर भागना ही हिन्दुओं के लिए आदर्श माना गया है। पलायनवाद के साथ नैतिकता का मेल नहीं खाता।
- (6) हिन्दू धर्म में आदर्श व्यक्ति उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ (good and evil) आदि नैतिक भेदों से ऊपर उठ जाता है। ऐसी स्थिति में नैतिकता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रकार, डॉ. स्वीट्जर ने हिन्दू धर्म में नैतिकता का सर्वथा अभाव बतलाया है। इनके अनुसार, हिन्दू रहस्यवाद (Hindu mysticism) पूर्णतया पारलौकिक (other-worldly) है और इसमें नैतिकता की खोज करना व्यर्थ है। जर्मन विचारक प्रो.

हीलर (Heiler) ने भी अप्रत्यक्ष रूप से डॉ. स्वीट्जर के कथन का समर्थन किया है।

हिन्दू धर्म के विरुद्ध लगाये गए उपर्युक्त आरोप को डॉ. राधाकृष्णन् ने निराधार बतलाया है। हिन्दू धर्म नैतिकता की अवहेलना करने की बात सोच भी नहीं सकता। नैतिकता हिन्दू धर्म के रग-रग में व्याप्त है।

डॉ. राधाकृष्णन् ने डॉ. स्वीट्जर द्वारा लगाये गये आरोपों का खण्डन करने के लिए कई सबल तर्कों का सहारा लिया है। यहाँ कुछ प्रमुख तर्क उल्लेखनीय हैं—

- (1) मनुष्य केवल शरीर (body) नहीं है इसे अन्न, वस्त्र एवं आवास की आवश्यकता है वह एक आत्मा (soul) भी है, जो भौतिक साधनों के उपभोग से सन्तुष्ट नहीं हो सकती। मानव अपनी समस्त इच्छाओं की सन्तुष्टि करने में अक्षम है। अपनी ससीमता, दुर्बलता एवं असहायावस्था महसूस करके मानव एक सर्वशक्तिमान, असीम, अलौकिक सत्ता की कल्पना करता है। इस असीम सत्ता की आराधना से मनुष्य अपनी कठिनाइयों पर विजय पाने की आशा रखता है। इसी से धार्मिक भावना का उदय होता है।

डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार, नैतिकता और पारलौकिकता में कोई विरोध नहीं है। दोनों सदैव साथ-साथ चलते हैं। पारलौकिक सत्ता के अभाव में नैतिकता का कोई मूल्य नहीं रह जाता। धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र दोनों ही आदर्शों के प्रकाश में आगे बढ़ते हैं। यदि व्यक्ति केवल वर्तमान से ही सन्तुष्ट हो तो उसके लिए 'चाहिए' (ought) को कोई अर्थ नहीं है और यदि वह अपने को सतत् परिवर्तनशील सत्ता मान ले तो फिर उसके लिए धर्म का कोई महत्त्व नहीं है।¹⁶ नैतिकता अनिवार्य रूप मान ले तो फिर उसके लिए धर्म का कोई महत्त्व नहीं है। नैतिकता अनिवार्य रूप से पारलौकिकता में निहित होनी चाहिए। अतः यदि हिन्दू धर्म परलोकवाद में विश्वास रखता है तो इससे उसे नैतिकतारहित नहीं कहा जा सकता है।

- (2) डॉ. स्वीट्जर की आपत्ति का विरोध करते हुए डॉ. राधाकृष्णन् का कथन है कि मानवीय नीतिशास्त्र (humanitarian ethics) और परलोकवाद में कोई विरोध नहीं है। पाश्चात्य धर्मों में मानवतावादी दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। भारतीय परम्परा में परलोकवाद का

समर्थन होता है; इसलिए मानवतावादी नीतिशास्त्र और परलोकवादी धर्म में कोई विरोध नहीं कहा जा सकता।

- (3) मायावाद का समर्थन करने के कारण हिन्दू धर्म पर यह आक्षेप किया जाता है कि यह विश्व की सत्ता का खण्डन करता है और इसे भ्रम या माया घोषित करता है। डॉ. राधाकृष्णन् इस आक्षेप को निराधार सिद्ध करते हैं। मायावाद के प्रमुख समर्थक शंकर विश्व को जब असत् (unreal) कहते हैं तो इसका अर्थ यह है कि विश्व पारमार्थिक दृष्टिकोण से सत्य नहीं है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से केवल ब्रह्म ही सत्य है, क्योंकि यह नित्य (eternal), अपरिवर्तनशील एवं अविनाशी है। विश्व परिवर्तनशील एवं क्षणभंगूर हैं। इसलिए इसे पारमार्थिक दृष्टिकोण से सत्य नहीं कहा जा सकता। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि विश्व पूर्णतया असत्य है। इसे भ्रम (illusion) नहीं कहा जा सकता। इसमें व्यावहारिक सत्ता विद्यमान है। इस प्रकार, व्यावहारिक दृष्टिकोण (practical or empirical point of view) से विश्व सत्य है और इसमें नैतिकता के लिए दरवाजा खुला हुआ है। अतः यह कहना गलत है कि हिन्दू धर्म मायावाद का प्रचार करके नैतिकता के लिए कोई जगह नहीं छोड़ता।

- (4) अपरिवर्तनशील, नित्य एवं असीम ईश्वर अनेक जीवों एवं परिवर्तनशील तथा क्षणिक विश्व की रचना क्यों करता है? हिन्दू धर्म का उत्तर है कि लीलावश ऐसा होता है। यह विश्व ईश्वर की लीला मात्र है। यदि विश्व केवल लीला है, तो फिर इसमें नैतिकता है। विश्व ईश्वर का वास्तविक रूपान्तरण (real modification) नहीं है। ईश्वर विश्व में रूपान्तरित होना प्रतीत होता है, न कि सचमुच रूपान्तरित होता है। विश्व ईश्वर के असीम आनन्द के कारण उत्पन्न हुआ है। इसलिए इसे निरर्थक नहीं कहा जा सकता। इस विश्व में नैतिकता के लिए पर्याप्त स्थान रह ही जाता है।
- (5) हिन्दू धर्म के अनुसार, मोक्ष (libertion) की प्राप्ति आत्मज्ञान (self knowledge or self-discovery) द्वारा संभव है। इस प्रकार नैतिक आचरण का यहाँ कोई महत्त्व नहीं है। यह आक्षेप निराधार है। यह सत्य है कि आत्मज्ञान मुक्ति का साधन है। ज्ञान यों ही नहीं मिल जाता, बल्कि इसे प्राप्त करने के लिए अथक प्रयास की आवश्यकता पड़ती हैं।¹⁷ इस प्रकार, यहाँ नैतिक आचरण अनिवार्य हो जाता है। ज्ञान कोरा ज्ञान नहीं कहा जा सकता। हिन्दू धर्म में ज्ञान (knowledge), भावना (feeling) और क्रिया (will or activity) सदैव साथ-साथ चलते हैं। इसलिए

आत्मज्ञान का सहारा लेने के कारण हिन्दू धर्म में नैतिकता का अभाव नहीं कहा जा सकता। आत्मज्ञान होने पर व्यक्ति संकीर्णता एवं स्वार्थपरता से ऊपर उठ जाता है और ऐसा करना नैतिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। मानव-आत्मा का आदर्श परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करना है। इसके लिए उसे जो आचरण करना पड़ता है वह नीति-शून्य नहीं कहा जा सकता।¹⁸

- (6) हिन्दू धर्म को पलायनवादी (excapit) नहीं कहा जा सकता। हिन्दुओं का कोई भी शास्त्र हमें कर्तव्य से भागने की सलाह नहीं देता। ज्ञानी, मुनि एवं सन्त सदैव लोक कल्याण के कार्य में सक्रिय रहे हैं। हिन्दू धर्म के आचार्यों ने सदैव लोकहित में सक्रिय रहना पसंद किया है। मुक्त जीव (liberated souls) द्वारा किये गए कर्म उन्हें बंधन में नहीं डालते। स्वयं शंकर ने लोकहित के कार्य में अपनी सारी जिन्दगी लगा दी थी। इस प्रकार, हिन्दू धर्म कभी भी हमें जीवन और जगत् से भागने का आदेश नहीं देता। इसलिए हिन्दू धर्म में नैतिकता को स्थान है।
- (7) हिन्दू धर्म के अनुसार, मुक्त जीव (liberated soul) नैतिक-अनैतिक, शुभ-अशुभ आदि से ऊपर उठ जाता है। उसके लिए शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित का कोई प्रश्न

नहीं उठता। अतः नैतिकता के लिए यहाँ कोई जगह नहीं रहती। डा. राधाकृष्णन् का कहना है कि यह आक्षेप मिथ्या एवं निराधार है। मुक्त जीव के नैतिकता से ऊपर उठने का यह अर्थ कदापि नहीं होता कि वह अनैतिक कर्म करता है। मुक्ति (freedom) और अनैतिकता में कोई मेल नहीं हो सकता। मुक्त जीव द्वारा अनुचित कर्म किया जाना असंभव है। वह जो भी कर्म करता है, वह नैतिक दृष्टिकोण से उचित ही ठहरता है। इस प्रकार, हिन्दू धर्म में नैतिकता के अभाव की बात अग्राह्य है।

- (8) स्वीट्जर (Sweitzer) ने हिन्दू धर्म में आन्तरिक पूर्णता (inner perfection) पर अत्यधिक जोर देखकर इसमें नैतिकता का अभाव बतलाया है। आन्तरिक पूर्णता के लिए शरीर और इन्द्रिय पर पूर्ण प्रतिबंध लगाना पड़ता है। इसी आधार पर कुछ आलोचक हिन्दू धर्म में नैतिकता का अभाव बतलाते हैं। यह आक्षेप पूर्णतया मिथ्या है। शरीर और इन्द्रिय-विजय की प्राप्ति के लिए अथक प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिए यहाँ नैतिकता के लिए जगह रह ही जाती है।

डॉ. राधाकृष्णन् का कहना है कि यदि हिन्दू धर्म में आन्तरिक पूर्णता पर जोर दिया जाता है तो ईसाई धर्म भी

आन्तरिक पूर्णता पर कम जोर नहीं देता। इसलिए यदि हिन्दू धर्म में नैतिकता का अभाव कहा जाता है तो ईसाई धर्म भी नैतिकता के लिए कोई जगह नहीं छोड़ता।

अतः डा. राधाकृष्णन् के शब्दों में, हिन्दू धर्म नैतिकता से ओतःप्रोत कहा जा सकता है। इसमें नैतिकता का अभाव बतलाता धर्म और नैतिकता का गलत अर्थ लगाना है।

हिन्दूधर्म की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

- (1) हिन्दूधर्म किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा प्रतिपादित नहीं हुआ है—यह धर्म बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म एवं इस्लाम धर्म के भिन्न है, क्योंकि ये धर्म क्रमशः बुद्ध, ईसा एवं मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित हैं। वैदिक काल से लेकर आज तक असंख्य ऋषि-मुनियों के अमूल्य विचारों का यहां संग्रह है। यह सनातन धर्म कहा जाता है। इसके सिद्धान्त किसी काल-विशेष में सत्य नहीं होते, बल्कि प्रत्येक युग में से सत्य माने जाते हैं। इस प्रकार, हिन्दू धर्म के प्रवर्तक के रूप में किसी व्यक्ति-विशेष की खोज करना सरासर भूल है ।
- (2) आध्यात्मिकता पर विशेष जोर—हिन्दू धर्म आध्यात्मिक धर्मों में सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है। यहाँ भौतिक साधनों की चमक-दमक को गौण (secondary) बतलाया गया है।

आत्मशुद्धि (self-purification) पर विशेष ध्यान दिया जाता है। शरीर एवं इन्द्रियों की सन्तुष्टि से बढ़कर आत्मा (soul) की सन्तुष्टि पर जोर दिया जाता है। हिन्दुओं का आत्मा की अमरता में अटूट विश्वास है। वर्तमान विश्व की अपेक्षा उन्हें परलोक की चिन्ता अधिक रहती है। यह धर्म रोजी-रोटी एवं आवास की समस्या को हल करना आवश्यक समझता है; किन्तु इससे भी बढ़कर आत्मा की पूर्णता पर जोर देता है। इसी कारण हिन्दू धर्म अध्यात्मवाद का सर्वोत्तम उदाहरण कहा जाता है।

(3) कर्म-सिद्धान्त (Law of karma)

हिन्दू धर्म कर्म-सिद्धान्त को अत्यधिक महत्त्व देता है। इस सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न जीवों में पायी जानेवाली विभिन्नता की व्याख्या सरलतापूर्वक की जा सकती है। सुख-दुःख हमारे कर्मों के फल हैं। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार, जो जैसा कर्म करता है, उसे उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है। शुभ कर्मों के करने से पुरस्कार-स्वरूप सुख मिलता है और अशुभ कर्मों के करने से दण्ड-स्वरूप दुःख भोगना पड़ता है। इसी प्रकार अच्छे और बुरे परिवार में जन्म लेना भी कर्म-सिद्धान्त पर ही आधारित है। वैदिककाल से लेकर आधुनिककाल तक कर्म-सिद्धान्त का अटूट विश्वास रहा है।

कर्म—सिद्धान्त ईश्वर का विरोध नहीं करता। प्रायः सभी हिन्दू स्वीकार करते हैं कि ईश्वर व्यक्तियों को उनके कर्म के अनुसार सुख या दुःख प्रदान करता है। सुख या दुःख प्रदान करने के पूर्व ईश्वर कर्म—सिद्धान्त को ध्यान में अवश्य रखता है।

(4) ईश्वर में विश्वास

हिन्दूधर्म ईश्वरवादी (theistic) धर्म है। यहाँ ईश्वर को सर्वशक्तिशाली, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी एवं नित्य माना गया है। यह ईश्वर तीन रूपों में व्यक्त होता है—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ब्रह्मा के रूप में ईश्वर विश्व का रचयिता है। विष्णु के रूप में यह विश्व का पालन—पोषण कर्त्ता है और महेश के रूप में यह विश्व का संहारक है। हिन्दूधर्म में ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण (personal) माना गया है। यह ईश्वर भक्तों की हर पुकार सुनता है और तदनुरूप उनकी मदद के लिए सदैव तत्पर रहता है। ईश्वर विश्व का नैतिक शासक (moral governor) है। यह कर्मफलदाता है। जीवों को उनके कर्मों के अनुसार सुख—दुःख, पुरस्कार—दण्ड देना ईश्वर का ही कार्य है। विश्व में नैतिक व्यवस्था स्थापित करने वाला ईश्वर ही है। वह जीवों को कर्म करने की प्रेरणा देता है। वह प्राणियों को संकल्प—स्वातन्त्र्य (freedom of will) प्रदान करता है। व्यक्ति शुभ या अशुभ कर्म करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र हैं। किन्तु उसे अपने कर्मों का फल निश्चित रूप से भोगना पड़ता

है। ईश्वर इस बात का पूरा ध्यान रखता है कि कोई भी व्यक्ति अपने कर्मफल से वंचित न रहे। ईश्वर धर्म व्यवस्थापक है। व्यक्ति को मोक्ष दिलाने में वह मदद करता है।

(5) चरम लक्ष्य के रूप में मोक्ष को अपनाना

हिन्दू धर्म के अनुसार, जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष (liberation) की प्राप्ति है। मोक्ष—दुःखरहित अवस्था का नाम है। यह वह अवस्था है, जहाँ व्यक्ति बंधन मुक्त होकर त्रिविध तापों से छुटकारा पा लेता है। मोक्ष दो प्रकार का है। जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति। शरीर धारण करते हुए मोक्ष पाना 'जीवनमुक्ति' है, मृत्यु के बाद प्राप्त मोक्ष 'विदेहमुक्ति' है। मोक्ष के दो पक्ष हैं—निषेधात्मक और भावात्मक। निषेधात्मक रूप में मोक्ष दुःखरहित अवस्था है। भावात्मक रूप में यह आनन्दमय अवस्था है। हिन्दू धर्म चार पुरुषार्थ मानता है— अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। इन चारों में, मोक्ष सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

(6) उच्च कोटि की नैतिकता

हिन्दू धर्म उच्च कोटि की नैतिकता प्रस्तुत करता है। यहाँ धर्म (virtue) के पाँच प्रकार बतलाये गये हैं— अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय (non-stealing) और अपरिग्रह।

(i) अहिंसा (Non-violence)

अंहिसा हिन्दू धर्म का सार है। किसी भी जीव को मन, वचन या कर्म से कष्ट पहुँचाना हिंसा (violence) है। अतः हमें मनसा, वाचा, कर्मणा अंहिसा का पालन करना चाहिए। अंहिसा पर अत्यधिक जोर देने पर भी हिन्दू धर्म परिस्थिति-विशेष में हिंसा का सहारा लेने का आदेश देता है। महाभारत के युद्ध में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को आततायी कौरवों के विरुद्ध शस्त्र उठाने का आदेश दिया था। पाण्डवों द्वारा हिंसा का सहारा लेना सर्वथा धर्मसंगत था। इसी प्रकार, गाँधीजी भी अंहिसा के स्थान पर परिस्थिति-विशेष में हिंसा के प्रयोग को वाञ्छनीय बतलाते थे।

(ii) सत्यता (Truthfulness)

हिन्दुओं में सत्य (truth) को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। कई हिन्दु-विचारकों ने तो सत्य को ही ईश्वर मान लिया है। मिथ्याभाषण, परनिन्दा आदि से दूर रहना उच्च कोटि का आचरण माना गया है। कटु सत्य हिन्दुओं में अवाञ्छनीय माना गया है। सत्य सदैव मधुर होना चाहिए। निरर्थक शब्दों का प्रयोग या आवश्यकता से अधिक बोलना भी वर्जित माना गया है।

(iii) ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का साधारण अर्थ यौन-आनन्द (sexual pleasure) का परित्याग है। किन्तु हिन्दू धर्म में इसको बृहद् अर्थ में लिया गया है। यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ इन्द्रिय-नियन्त्रण (sense control)

माना गया है। वासना की ओर प्रवृत्ति का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है। नारी का ध्यान, उसकी कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्श, आलिंगन, एकान्तवास तथा उसके साथ समागम आदि आठ प्रकार के मैथुन का परित्याग करना ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक माना गया है। इस प्रकार, हिन्दू धर्म में ब्रह्मचर्य व्रत को उच्च स्थान दिया गया है।

(iv) अस्तेप

दूसरों का धन अपहरण करना स्तेय या चोरी (stealing) है। अतः पराये का धन नहीं लेना अस्तेय है। बिना किसी की मर्जी के उसकी सम्पत्ति का अपहरण करना सर्वथा वर्जित है।

(v) अपरिग्रह

लोभवश अनावश्यक वस्तु के ग्रहण का त्याग ही अपरिग्रह है। आवश्यकता से अधिक धन रखना चोरी के तुल्य है। हमें अपनी आवश्यकता के अनुकूल ही धन अर्जित करना चाहिए।

(7) पुनर्जन्म (Rebirth) में विश्वास

हिन्दू धर्म पुनर्जन्म में विश्वास रखता है। पुनर्जन्म का अर्थ है जीव का बार-बार जन्म ग्रहण करना। पुनर्जन्म का सिद्धान्त आत्मा की अमरता एवं कर्म-सिद्धान्त से फलित होता है। मृत्यु आत्मा का नाश नहीं है, बल्कि शरीर का नाश है। जिस प्रकार व्यक्ति पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्रों को धारण करता है,

ठीक उसी प्रकार आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करती है। आत्मा नित्य एवं अविनाशी है। इसे न शस्त्र काट सकता है, न आग जला सकती है, न हवा सुखा सकती है और न जल भिगो सकता है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार, व्यक्ति को अपने कर्मों का फल अनिवार्य रूप से भोगना पड़ता है। व्यक्ति का वर्तमान जीवन इतना लघु होता है कि इसमें उसके सभी कर्मों का फल भोगना संभव नहीं है। इसीलिए आत्मा को बार—बार शरीर धारण करना पड़ता है।

बौद्ध धर्म भी पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानता है। इस धर्म में आत्मा को नित्य (eternal) नहीं माना जाता। इसके अनुसार, जिस प्रकार एक दीपक से दूसरा दीपक जल उठता है उसी प्रकार वर्तमान जीवन की अन्तिम अवस्था भविष्य जीवन की प्रथम अवस्था को उत्पन्न करती है और इस प्रकार पुनर्जन्म का क्रम चलता रहता है। बौद्ध मत हिन्दू मत की अपेक्षा यहाँ विशिष्ट प्रतीत होता है।

(8) वर्णाश्रम धर्म

हिन्दू धर्म में वर्णाश्रम धर्म एक अद्भूत वस्तु है। यहाँ चार प्रकार के वर्ण और चार प्रकार के आश्रम माने गये हैं। इन वर्णों एवं आश्रमों के अलग—अलग धर्म हैं, जिनका पालन करना प्रत्येक हिन्दू का पवित्र कर्तव्य है। वर्ण चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं

शूद्र। ब्राह्मण का कार्य अध्ययन-अध्यापन, पूजा-पाठ एवं मार्ग-दर्शन करना है। क्षत्रिय का कार्य देश एवं समाज को शत्रुओं से सुरक्षित रखना है। वैश्य का कार्य धन उत्पन्न करना है और शूद्र का कार्य अन्य तीन वर्णों की सेवा करना है। इसी प्रकार चार आश्रम हैं-ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम।

ब्रह्मचर्याश्रम में व्यक्ति ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विद्योपार्जन करता है और गृहस्थ जीवन की पृष्ठभूमि तैयार करता है। गृहस्थाश्रम में शादी-विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करना एवं खेती-गृहस्थी चलाना धर्म बतलाया गया है। वानप्रस्थाश्रम में व्यक्ति की इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती है। अतः ईश्वर का चिन्तन, उपवास, जप-तप आदि में ध्यान लगाना, सभी प्रकार का कष्ट झेलना, प्राणि मात्र पर दया दिखलाना, धार्मिक विषयों का अध्ययन करना आदि इस आश्रम के आवश्यक धर्म माने जाते हैं। संन्यास श्रम अन्तिम आश्रम है। इसमें व्यक्ति को परिवार एवं संसार से पूर्ण संन्यास लेना पड़ता है। सांसारिक विषय-वस्तुओं से उसे नाता तोड़ना पड़ता है। यहाँ व्यक्ति को पत्नी के साथ रहने की मनाही है। यहाँ ईश्वर-प्राप्ति के लिए व्यक्ति सदैव प्रयत्नशील रहता है। संन्यास के लिए क्षमा, दया एवं लोक

कल्याण के गुण आवश्यक हैं। जैनी एवं हिन्दू अभी भी कुछ हद तक इस नियम का पालन कर रहे हैं।

(9) समन्वयवादी दृष्टिकोण

हिन्दू धर्म के अन्तर्गत अनेक धार्मिक सम्प्रदाय पाये जाते हैं। इन विभिन्न विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करके इन्हें एक साथ रखना हिन्दू धर्म की अपनी प्रमुख विशेषता है। इसके अतिरिक्त, अन्य धर्मावलम्बियों के साथ भी हिन्दू धर्म शत्रुतापूर्ण भाव नहीं रखता। 'सर्व-धर्म-समन्वय' को हिन्दुओं का आदर्श कहा जाता है। हिन्दू किसी भी धर्म को हेय नहीं मानता। इसके अनुसार, विश्व के विभिन्न धर्म एक ही ईश्वर तक पहुँचने के विविध मार्ग हैं। अतः सभी धर्म अच्छे और अनुकरणीय हैं। भारत में अनेक धर्मावलम्बी आये; किन्तु हिन्दू धर्म ने किसी भी धर्म का विरोध नहीं किया। हिन्दू धर्म के साये में विविध धर्म सुख-चैन की साँस ले रहे हैं। इससे इसका समन्वयवादी दृष्टिकोण स्पष्ट नजर आता है।

(10) सहिष्णुता

सहिष्णुता या सहनशीलता हिन्दू धर्म की मुख्य विशेषता है। हिन्दुओं पर समय-समय पर अनेक अत्याचार किये गये हैं। किन्तु हिन्दू धर्म ने असीम धैर्य का परिचय दिया है। वीर सावरकर, लोकमान बालगंगाधर तिलक, महात्मा गाँधी, रवीन्द्र

नाथ टैगोर, तैलंग महाप्रभु, चैतन्य महाप्रभु आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इनके पूर्व महाराणा प्रताप, शिवाजी महाराज, वीर कुवरसिंह, लक्ष्मी बाई आदि ने भी ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद उन्हीं की एक कड़ी है। यह हिन्दुओं की खास विशेषता है। जिन धर्मों को इसने अपने यहाँ शरण दी, उनके अत्याचारों को बरदाश्त करने में इसने अपनी असीम सहिष्णुता का परिचय दिया है। हिन्दू-भूभाग में अन्य धर्मावलम्बी प्रभोभन या शक्ति-प्रयोग के द्वारा इसके लाखों सदस्यों का धर्म-परिवर्तन करने में सफल हुए हैं। अभी भी हिन्दुओं को अन्य धर्मों में लाने का अथक प्रयास चल रहा है। किन्तु हिन्दू धर्म की सहिष्णुता पर कोई आँच नहीं आयी। यह सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखने का अभ्यासी है।

(11) धर्म मार्ग अथवा उपाय

हिन्दू धर्म ने ईश्वर प्राप्ति या मोक्ष प्राप्ति के लिए तीन मार्ग बतलाये हैं—भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग। इन्हें तीन योग भी कहते हैं—भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग। प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति समान नहीं होती। किसी का झुकाव ज्ञान की ओर रहता है, किसी का भक्ति की ओर तथा किसी का कर्म की ओर रहता है। व्यक्ति की अपनी प्रवृत्ति एवं क्षमता के अनुकूल ही इन तीनों योगों में से किसी एक को अपनाना चाहिये। ये तीनों

ही मार्ग व्यक्ति को मोक्ष-प्राप्ति में मदद पहुंचाते हैं। इसके अतिरिक्त राजयोग की भी चर्चा की गई है। यह महर्षि पतंजलि द्वारा निर्गत किया गया उपाय है। स्वामी विवेकानन्द ने भी अपनी पुस्तक राजयोग में इस बात की पुष्टि की है।

(12) अवतारवाद

हिन्दू धर्म का विश्वास है कि जब-जब विश्व में अधर्म की वृद्धि एवं धर्म का क्षय होता है, तब-तब ईश्वर मनुष्य के रूप में अवतरित होकर अधर्म का नाश करता है। श्रीमद्भगवद्गीता, रामायण, रामचरित मानस में इस बात की पुष्टि की गई है। मैथली शरण गुप्त और रामधारीसिंह दिनकर ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है। राम, कृष्ण, परशुराम आदि ईश्वर के ही अवतार हैं। राम ने रावण-रूपी अशुभ को नष्ट करने के लिए मानव-रूप धारण किया। इसी प्रकार कृष्ण ने कंस-रूपी अशुभ को नष्ट करने के लिए अवतार लिया। अवतारवाद हिन्दू धर्म के लिए आशावाद का केन्द्र है। यदि व्यक्ति को यह विश्वास हो जाय कि विश्व में अशुभ (evil) का साम्राज्य होने पर ईश्वर मनुष्य के रूप में अवतरित होकर अशुभ (good) का नाश करता है और शुभ का साम्राज्य स्थापित करता है तो उसे अजीब बल मिलता है। अवतारवाद व्यक्ति को धार्मिक मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहित

करता है। इस प्रकार, अवतारवाद हिन्दू धर्म में चार चाँद लगा देता है।

अब प्रश्न उठता है—क्या हिन्दू धर्म विश्वव्यापी धर्म (universal religion) कहा जा सकता है? इसके उत्तर में डॉ. राधाकृष्णन् का कहना है कि "हिन्दूधर्म विश्वव्यापी धर्म की सभी माँगें पूरी करता है"। इस धर्म के विश्वव्यापी होने की बात स्मिथ (Smith) की इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाती है— "India beyond all doubt possesses a deep underlying fundamental unity, far more profound than that produced either by geographical isolation or political superiority. That unity transcends the innumerable diversities of blood, colour language, dress, manner and sect."

हिन्दू धर्म ने अनेक विदेशी तत्त्वों को अपने अन्दर आत्मसात् कर लिया है। अनेक विदेशी आक्रमणकारी इस देश में आकर हिन्दू धर्म के प्रभाव से अपने को बचा न सके। हिन्दू धर्म ने अन्य धर्मों के प्रति कभी घृणा का भाव नहीं दिखलाया। सभी धर्मों के प्रति समान आदर की भावना तथा असीम सहनशीलता निश्चय ही इसको विश्वव्यापी धर्म के स्तर पर ला देती है। इस धर्म के साये में अनेक धर्मों ने आश्रय लिया है। हिन्दू धर्म ने विभिन्न धर्मों की विचारधाराओं को अपने अन्दर उचित स्थान प्रदान किया है। इससे इसका विश्वव्यापी दृष्टिकोण प्रगट होता है।

गैलवे (Galloway) के अनुसार, विश्वव्यापी धर्म का प्रमुख लक्षण विकासशील होना है। हिन्दू धर्म एक विकासशील (dynamic and progressive) धर्म है। इसके बाह्य रूप में अनवरत परिवर्तन होते आ रहे हैं। यह सत्य है कि यह शाश्वत मूल्यों (eternal values) में विश्वास रखता है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि मूल्यों की सिद्धि का प्रयास आदिकाल से ही हिन्दू-विचारकों द्वारा होता आया है। इन शाश्वत मूल्यों की व्याख्या नये ढंग से होती आयी है। वर्णाश्रम धर्म की आज आधुनिक परिभाषा दी जा रही है। इस प्रकार, हिन्दू धर्म एक प्रगति धर्म होने के कारण विश्वव्यापी कहा जा सकता।

हिन्दू धर्म को विश्वव्यापी धर्म मानने के और कई कारण हैं। इस धर्म के अनुसार, ईश्वर और मानव के बीच एक सामीप्य पाया जाता है। आराधक और आराध्य के बीच आवश्यक सम्बन्ध रहता है। यह धर्म हमें विश्व की बुराइयों से घबड़ाकर भागने की सलाह नहीं देता। विश्व धर्म की स्थापना में योग देना प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है। हिन्दू धर्म मोक्ष प्राप्ति को ही मानव का चरम लक्ष्य (the ultimate aim) बतलाता है और इसके लिए विविध मार्ग दिखलाता है। इन्हीं सब कारणों से हिन्दू धर्म को विश्वव्यापी धर्म कहने में कोई हर्ज नहीं है। डा. राधाकृष्णन् ने इस धर्म को विश्वव्यापी धर्म के रूप में चित्रित किया है।

हिन्दू धर्म किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा प्रतिपादित नहीं हुआ है। यह सनातन धर्म हैं, क्योंकि यह सनातन काल से चला आ रहा है। यह अत्यन्त प्रभावित हुआ है। यह मुख्यतः भारतवासियों का धर्म है। इसके अतिरिक्त जावा, सुमात्रा, बालीद्वीप, बर्मा आदि देशों में इसके समर्थक भी हैं। भारत पर विदेशियों के आक्रमण सदैव होते रहे हैं। मुगल, अफगान, तुर्क, अँग्रेज आदि विदेशी यहाँ धर्म, के साथ रीति-रिवाज भी लेते आये। चीनी यात्रियों ने भी यहाँ आकर अपने धर्म एवं रीति-रिवाज से हिन्दुओं को प्रभावित किया। इस प्रकार, विभिन्न प्रकार के विदेशियों ने इस हिन्दू-भूभाग को प्रभावित किया है।

भारत में विश्व के सभी धर्मों के लोग निवास करते हैं। ईसाई, मुसलमान, चीनी, बौद्ध, जैन आदि धर्मों के लोग हिन्दुओं के साथ घुल-मिल गये हैं। विश्व में अनेक धर्मों के उत्थान-पतन हुए हैं। अनेक सभ्यता-संस्कृतियों का उदय हुआ और कालक्रम में उनका लोप हो गया। किन्तु भारतीय संस्कृति (अर्थात् हिन्दू धर्म) सनातन काल से अनेक विदेशी हमलों का सामना करते हुए अभी भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। विदेशी आक्रमणकारियों एवं लुटेरों ने हिन्दू धर्म को मटियामेल करने का भरसक प्रयास किया। लाखों हिन्दुओं का कत्ल किया गया।

लाखों हिन्दुओं को जबरदस्ती धर्म-परिवर्तन कराया गया। मुसलमान-शासकों ने सैकड़ों वर्षों तक इस देश को लुटा-खसोटा और यहाँ का हिन्दू-संस्कृति स्थानों पर मस्जिदों का निर्माण किया। सोमनाथ का पवित्र एवं महान् मन्दिर इसी प्रकार तोड़ा गया। मुगल-बादशाहों ने हिन्दुओं पर अनेक अत्याचार कर इस धर्म का मूलोच्छेद करना चाहा। किन्तु वे इस धर्म की जड़ नहीं काट सके। इस धर्म की जड़ पाताल तक नीचे चली गयी है। इसे जड़ से उखाड़ना असंभव है। भारत में रहने वाले मुसलमान हिन्दुओं के ही रीति-रिवाजों एवं रंग-ढंग में ढल गये हैं। हिन्दू धर्म इस प्रकार मुस्लिम-तत्त्वों को अपने अन्दर समेटने में सफल हुआ है।

मुसलमानों के बाद अँग्रेजों ने इस देश पर सैकड़ों वर्ष शासन किया। आतातायी अँग्रेज शासकों ने भी हिन्दू धर्म को समाप्त करने के उद्देश्य से हिन्दी एवं संस्कृत के स्थान पर विदेशी भाषा-अँग्रेजी को लोगों पर लाद दिया। ईसाई-मिशनरियों एवं पादरियों ने जगह-जगह चर्च, औषधालय, स्कूल आदि खोलकर हिन्दुओं को ईसाई धर्म में दीक्षित करने का भरसक प्रयास किया है। फिर भी, हिन्दू धर्म अपने मौलिक सिद्धान्तों की रक्षा करने में समर्थ है। इसे समृद्ध बनाने में रामानुजा का बहुत बड़ा हाथ है। इसलिये भक्ति स्कूल्स ऑफ वेदान्त बाय स्वामी

टोपाज में बतलाया गया है कि "Ramanuja's theism is far more personalistic than the so called monatheism of sunitic origin like Judaism. Islam and Christainity."

बौद्ध धर्म और जैन धर्म का उदय इसी हिन्दू-भूभाग में हुआ। इनके प्रवर्तक बुद्ध एवं ऋषभदेव तथा अन्तिम तीर्थंकर महावीर मूलतः हिन्दू ही थे। ये दोनों धर्म भारत में ही उत्पन्न होकर पल्लवित-पुष्पित हुए और विश्व के कई हिस्सों में फैल गये। सिक्ख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक ने भी हिन्दू-धर्म और इस्लाम धर्म की प्रतिक्रिया में ही अपने धर्म की स्थापना की थी। किन्तु सिक्ख धर्म भी हिन्दुओं का विरोध करने के बजाय इसका एक अंग बन गया है।

उपर्युक्त कई धर्मों का उदाहरण देने का अभिप्राय यह है कि हिन्दू धर्म ने इन धर्मों को अपने ही रंग में रंग दिया है। विभिन्न धर्मों के सिद्धान्त इस धर्म में पाये जाते हैं। विश्व का कोई भी धर्म ऐसा नहीं है, जो किसी-न-किसी रूप में हिन्दू धर्म में विद्यमान न हो। इसी कारण हिन्दू धर्म को अनेक धर्मों का मिश्रण कहा गया है। किन्तु यह केवल अनेक धार्मिक तत्त्वों का मिश्रण नहीं है, बल्कि उपर्युक्त तत्त्वों के आ जाने से हिन्दू धर्म में कोई अव्यवस्था (chaos) नहीं आयी है। यह धर्म इतना

सुव्यवस्थित है कि इसके अन्तर्गत आनेवाले विभिन्न तत्त्वों में भी एक व्यवस्था एवं क्रमबद्धता का अनुभव होने लगता है।

इसलिए यह कहना सर्वथा अनुचित है कि हिन्दू धर्म अनेक प्रकार के धर्मों का मिश्रण मात्र है और इसमें व्यवस्था का अभाव है। हिन्दू धर्म सुव्यवस्थित धर्मों में प्रमुख स्थान रखता है। इसे सुव्यवस्थित करने में रामानुजाचार्य की अहम भूमिका है। श्रीभाष्य के प्रिफेश में एम.ए. लक्ष्मीथाचर ने ठीक ही लिखा है— Acharya Ramanuja a great philosopher and thinker appeared on the philosophical firmament in the 11th century A.D. At that time Hinduism had become very weak by blind following of ceremonies and petified formalism. At this Juncture Buddhism and Jainism appeared as reformative movements. Budhist and Jaina as they appeared to be negative and sceptical and could not satisfy it spiritually. लोकमान बाल गंगाधर तिलक ने भी इस बात की पुष्टि की है। इसीलिये रामधारीसिंह 'दिनकर' ने सांस्कृतिक एकता नामक पुस्तक में लिखा है— "भारतवर्ष ऐसे देशों में अग्रणी और हिन्दू जाति ऐसी जातियों में महान् है और अत्यन्त प्राचीन काल से ही सांस्कृतियों का यहाँ समन्वय होता रहा है, उसकी कहानी सचमुच मनोरंजक और मजेदार है।"

References

1. डॉ. राधाकृष्णन : धर्म और समाज, पृ. 121

2. डॉ. राधाकृष्णन : धर्म और समाज, पृ. 121
3. "असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योमा अमृतं गमय
4. "Religion is the inspiration of morality; without religion, morality is but an eternal struggle; in religion it is turned into realization.
5. डॉ. राधाकृष्णन : धर्म और समाज, पृ. 130
6. वही
7. "न संक्षो तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम"
8. "न तस्य प्रतिभा अस्ति"
9. "सर्वस्ववासी, सर्वस्येशानः, सर्वस्याधिपतिः – वृहदाप्यक उपनिषद्
10. डॉ. राधाकृष्णन : धर्म और समाज, पृ. 143
11. "उत्तमा सहजावस्था द्वितीया ध्यानधारणा तृतीया प्रमिमापूजा होमयात्रा चतुर्थिका"
12. "सुविशालमिदं विश्वं पवित्रं ब्रह्ममन्दिरम्, चेतः सुनिर्मलं तीर्थ सत्यं शास्त्रमनश्वरम्"
13. "The suggestion is that spiritual wisdom, executive power, skilled production and devoted service are the indispensable elements of any social order. It is the function of the wise to plan the social order; of the powerful to sanction it; and of the skilled to execute it with the help of devoted workers".

14. "यथा धेनुसहस्रेषुवत्सो विन्दति मातरम् । तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ।
15. "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे"
16. "If we are satisfied with what exists, there is no meaning in 'ought', if we are a species of passing phenomenon there is no meaning in religion.
17. "Wisdom is not cheaply won. It is achieved through hard sacrifice and discipline, through the endurance of conflict and pain".
18. "When the individual soul is embraced by the all-embracing spirit, his heart is released from its burden of care. The sorrows and errors of the past, the anxiety of unsatisfied desires, and the bitterness of resentment disappear. And these things do not violate the principle of morality.

अध्याय – 7

यहूदी धर्म

(Judaism)

जुडाइज्म या यहूदी धर्म यहूदियों का धर्म है। यह बाइबिल के 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' (Old Testament) पर आधारित है। इसी यहूदी धर्म से ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म की उत्पत्ति मानी जाती है। यह धर्म आध्यात्मिक धर्म है। महात्मा मूसा (Moses) ने यहूदी धर्म को सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया है। इन्हें इस धर्म का सबसे महान् धार्मिक नेता माना जाता है। इस सम्बन्ध में बी. रसेल ने हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसॉफी में ठीक ही लिखा है— The Christian religion, as it was handed over by the late Roman Empire to the barbarians consisted of three elements: first, certain philosophical beliefs derived mainly from Plaoat and the Neoplatonists part from the stoics; conception of morals and history derived from the Jews;, ईसाइयों ने इन्हीं से नैतिकता की अवधारणा को प्राप्त किया है। इनकी ऐतिहासिक सोच भी उन्हीं की है।

यहूदी धर्म की सामान्य विशेषताएँ

इस धर्म की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) एकेश्वरवादी धर्म

यहूदी धर्म एकेश्वरवादी धर्म (monotheistic religion) का सुन्दर उदाहरण है। इस धर्म के पूर्व अनेकेश्वरवाद (polytheism) का बोल-बाला था। नदियों, झरनों तथा अन्य वस्तुओं को आराधना का विषय माना जाता था। यहूदीधर्म अनेकेश्वरवाद एवं मूर्तिपूजा का घोर विरोधी है। इसके अनुसार, ईश्वर एक है जो सर्व शक्तिशाली, सर्व ज्ञाता, असीम, दयालु एवं न्यायी है। यहाँ ईश्वर को 'जेहोवा' (Jehovah) कहते हैं ।

(2) व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर में विश्वास

यहूदी धर्म ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानता है। इसमें प्रेम, दया, क्षमा, न्यायप्रियता आदि मानवीय गुण विद्यमान हैं। उसमें न्याय एवं शान्ति (anthropomorphism) के गुण भी पाये जाते हैं। ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानने के चलते उसे मानवीय स्तर पर नहीं लाया जा सकता। ईश्वर असीम सत्ता है; किन्तु मानव ससीम सत्ता है। वह मानव की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली एवं महान् है। उसमें अनन्तता की भावना निहित है। इसलिए यहाँ ईश्वर को मानवीकारण के दोष से ग्रसित नहीं कहा जा सकता। व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर धार्मिक भावना को सन्तुष्ट करता है।

(3) कर्म-सिद्धान्त का समर्थन

यहूदी धर्म व्यक्तिवादी धर्म है। इसके अनुसार, व्यक्ति की महत्ता बहुत बड़ी है। मनुष्य को अपने कर्मों का फल निश्चित

रूप से भोगना पड़ता है। शुभ कर्मों के लिए व्यक्ति को पुरस्कार एवं अशुभ कर्मों के लिए दण्ड दिया जाता है।

(4) पुनर्जन्म (Rebirth) में विश्वास

जीव अपने सारे कर्मों का फल इसी जीवन में नहीं भोग पाता। इसलिए उसे दूसरी बार जन्म लेना पड़ता है। कर्मफल भोगने के लिए आत्मा बार-बार जन्म लेती है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानने के कारण यहूदी धर्म हिन्दू धर्म के अधिक समीप आ जाता है।

(5) आत्मा की अमरता (Immortality of Soul)

पुनर्जन्म (rebith) का सिद्धान्त आत्मा के अमरत्व से ही फलित होता है। आत्मा को अमर माने बिना पुनर्जन्म का सिद्धान्त कार्य नहीं कर सकता। यदि आत्मा मरणशील (mortal) हो तो फिर वह बार-बार जन्म कैसे धारण कर सकती है। इसलिए पुनर्जन्म के सिद्धान्त को सार्थक बनाने के लिए आत्मा की अमरता में विश्वास आवश्यक है। यहाँ भी यहूदी धर्म और हिन्दू धर्म एक दूसरे से काफी मिलते-जुलते हैं। आत्मा के अमरत्व को दोनों ही स्वीकार करते हैं।

‘दस आदेश’ (Ten commandments)

यहूदी धर्म की विशेषताएँ उसके निम्नलिखित ‘दस आदेश’ हैं—

(क) "मै तुम्हारा ईश्वर हूँ और तुम्हें मिश्रदेश से मुक्त कर यहाँ लाया हूँ।"

(ख) "मेरे सिवा तुम्हारे लिए कोई देवता नहीं होगा। तुम न किसी प्रकार की मूर्ति बनाना और न स्वर्ग की किसी वस्तु के रूप को गढ़ना।"

(ग) "तुम व्यर्थ ईश्वर का नाम न लेना। ईश्वर का व्यर्थ नाम लेने वाला निर्दोष नहीं कहा जा सकता।"

(घ) "तुम पवित्र दिन नहीं भूलना। उस दिन तुम्हें कोई काम नहीं करना होगा। भगवान् ने छह दिन काम करके सातवें दिन आराम किया।"

(ङ.) "अपने माता-पिता की इज्जत करो"

(च) "हत्या न करो।"

(छ.) "व्यभिचार न करो।"

(ज) "चोरी मत करो।"

(झ) "अपने पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही मत दो।"

(ञ) "अपने पड़ोसी के मकान, नौकर, स्त्री, भाई, बैल आदि किसी के प्रति लालच न करो।"

उपर्युक्त 'दस आदेशों' में नैतिक विचारों की झलक दीख पड़ती है।

(6) सन्तोष एवं विनम्रता पर जोर

यहूदी धर्म में सन्तोष (contentment) को एक महान् धर्म माना गया है। सन्तोष के साथ-साथ विनम्रता (humility) को भी इस धर्म में उच्च स्थान दिया गया है। सन्तोषी व्यक्ति ही सबसे धनी माना गया है। यहाँ विनम्र व्यक्ति ही ईश्वर का प्रिय बन सकता है।

(7) अपवित्र इच्छाओं एवं वासनाओं के दमन का आदेश

यहूदी धर्म में आत्म संयम (self-control) एवं इन्द्रिय-विजय (the conquest of the senses) को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। आत्मपूर्णता (self-perfection) के लिए आत्म संयम एवं इन्द्रियों पर नियन्त्रण आवश्यक समझा गया है।

(8) शान्ति एवं सत्यता पर अत्यधिक जोर

यहूदी धर्म शान्ति की स्थापना पर विशेष बल देता है। कहा भी गया है— 'Seek peace and pursue it' सत्यता (truthfulness) भी नैतिक आचरण का एक आवश्यक अंग माना गया है। सत्यता मनुष्य को ईश्वर का कृपा पात्र बनाती है।

(9) संन्यासवाद या पलायन का खण्डन

यहूदी धर्म विश्व को माया या भ्रम नहीं मानता। इसके अनुसार, विश्व वास्तविक है। व्यक्ति को विश्व से भागने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसे तो हटाकर अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए यहाँ कर्म करते रहना चाहिए। यह विश्व कर्म भूमि है। जहाँ

व्यक्ति अपना लक्ष्य पूरा कर सकता है। जीवन और जगत् से भोगने की सलाह का इस धर्म में सर्वथा अभाव है।

(10) पड़ोसियों के प्रति प्रेम

यहूदी धर्म में 'पड़ोसी' (neighbour) को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। पड़ोसी को अपना समझकर प्यार करना चाहिए ('Love thy neighbour as thyself')। पड़ोसी के साथ-साथ अजनबी (stranger) को भी प्यार करने का आदेश दिया गया है।

(11) दान, भिक्षा, पीड़ितों की सहायता आदि नैतिक कर्मों पर जोर दिया गया है। गरीबों को दान देना, पीड़ितों को सहायता करना प्रत्येक यहूदी का पवित्र कर्तव्य माना गया है। यहाँ यहूदी धर्म, इस्लाम धर्म के अधिक निकट दीख पड़ता है; क्योंकि इस्लाम धर्म में खैरात (alms-giving) का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(12) पाप व्यक्ति के स्वभाव में ही निहित माना गया है— पापी ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकते। यदि कोई व्यक्ति अपने पाप का प्रायश्चित्त करता है और ईश्वर के सम्मुख आत्म समर्पण करता है, तो उसे ईश्वर क्षमा करके अपना लेता है। यहाँ प्रार्थना एवं आराधना के बल पर व्यक्ति अपने पापों से छुटकारा पा सकता है। इस प्रकार, इस धर्म में क्रियात्मक पक्ष (conative aspect) पर भी ध्यान दिया गया है। धार्मिक त्यौहार एवं उत्सव भी यहूदियों में बहुत प्रचलित हैं।

(13) यहूदी धर्म में कुछ कर्मों के करने का निषेध किया गया है— मूर्ति पूजा करना, अपशब्द का प्रयोग (blasphemy), एक गोत्र के स्त्री—पुरुष का समागम (incest), हत्या, चोरी, जीवित पशु का मांस खाना एवं अन्याय आदि का निषेध किया गया है। इन दूषित कर्मों के परित्याग से ही व्यक्ति पवित्रता प्राप्त कर सकता है तथा ईश्वर का प्रिय पात्र बन सकता है।

(14) न्याय—दिवस (Resurrection Day)

यहूदी धर्म में 'न्याय—दिवस' विशेष महत्त्व रखता है। मृत्यु के बाद आत्मा के कर्मों का मूल्यांकन जिस दिन किया जाता है उसे ही 'न्याय—दिवस' कहते हैं। न्याय होने के बाद प्रत्येक जीव को नर्क के पुल से गुजरना पड़ता है। यहूदी धर्म स्वर्ग, नर्क एवं भविष्य के जीवन में विश्वास रखता है।

यहूदी धर्म एकेश्वरवाद (monotheism) का सुन्दर उदाहरण है। प्रारंभ में हजराईलवासी अनेक देवों में विश्वास रखते थे। किन्तु बाद में चलकर यहूदियों ने एक ईश्वर को असीम, सर्वशाक्तशाली, सर्वज्ञ सत्ता के रूप में स्वीकार कर लिया। अनेक देवी—देवताओं की पूजा के विरोध में ही यहूदी धर्म उत्पन्न हुआ है। इसमें मूर्ति—पूजा (idolatory) का खंडन किया गया है। इस धर्म के ईश्वर को 'जेहावा' (Jehovah) कहते हैं। ईश्वर ने स्वयं घोषणा की है 'I am Jehovah!' जेहोवा के सिवा कोई अन्य

परम सत्ता नहीं है। इस प्रकार यहूदी धर्म एकेश्वरवाद (monotheism) का समर्थक है।

यहूदी धर्म के अनुसार, ईश्वर तक मानव की पहुँच असंभव नहीं कही जा सकती। यहाँ ईश्वर और मानव के बीच पिता—पुत्र का सम्बन्ध माना गया है। जिस प्रकार पुत्र अपने पिता तक आसानी से पहुँच पाता है, उसी प्रकार मानव भी ईश्वर तक पहुँचने में पूर्णतया समर्थ है। धार्मिक भावना के लिए मानव और ईश्वर के बीच का यह सम्बन्ध अत्यन्त उपयोगी है।

यहूदी ईश्वर को विश्व का कारण मानते हैं। ईश्वर ने ही मानव और अन्य प्राणियों की रचना की है। इससे मानव और ईश्वर की बीच घनिष्ठ सम्बन्ध का पता चलता है। धार्मिक दृष्टिकोण से यह सम्बन्ध अत्यन्त लाभप्रद है। यहूदी धर्म का ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण (personal) है। इसमें अनेक गुण विद्यमान हैं। यह सर्वशाक्तिशाली, असीम, सर्वज्ञ, न्यायप्रिय, दयालु ईमानदार एवं शान्तिप्रिय है। ईश्वर में इन गुणों का आरोपण करने से मानवीकरण (anthropomorphism) का दोष नहीं होता।

मानव व्यक्तित्व ससीम (finite) एवं अपूर्ण (imperfect) है; किन्तु ईश्वरीय व्यक्तित्व असीम, अनन्त एवं पूर्ण है। इसलिए ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानने पर इसकी पूर्णता (perfection) में कोई कमी नहीं आती। ईश्वर में न्यायप्रियता एवं शान्तिप्रियता के

गुण साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। इसीलिए यहूदी धर्म में कहा गया है कि न्याय एवं शान्ति एक दूसरे को चूमते हैं ("Righteousness and peace kiss each other")। यह व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर मानव से उम्मीद रखता है कि वह अन्य व्यक्तियों के प्रति दया, क्षमा, प्रेम एवं सहानुभूति का भाव दिखलाये। वह मनुष्य को अपने ही समान ईमानदार, पवित्र निष्पाप देखना चाहता है।

यहूदी धर्म का ईश्वर मानव की केवल रचना ही नहीं करता, बल्कि उसका पालन-पोषण एवं संरक्षण भी करता है। वह सर्वशाक्तशाली सत्ता होने के साथ-ही-साथ अत्यन्त प्रिय भी है। वह मानव को अपनी सन्तान समझकर प्यार करता है। जिस प्रकार कोई पिता अपनी सन्तान के प्रति अन्याय नहीं कर सकता, उसी प्रकार ईश्वर भी मानव के प्रति अन्याय की बात भी नहीं सोच सकता। मनुष्य को भी ईश्वर के पिता के रूप में ग्रहण करके उसके प्रति आदर एवं श्रद्धा के भाव रखने चाहिए। ईश्वर क्षमा के भागी बन जाते हैं। प्रायश्चित्त के बाद ईश्वर पापी व्यक्ति को भी हृदय से लगा लेता है।

यहूदी धर्म के ईश्वर में अनेक महान् गुणों के साथ-साथ कुछ अशोभनीय गुण भी पाये जाते हैं। ईर्ष्या एवं कठोरता के गुण इस ईश्वर में विशेष रूप विद्यमान है। जिन व्यक्तियों से ईश्वर नाराज रहता है, उन्हें वह कठोर दण्ड देता है। वह ईर्ष्यालु भी

है। विश्व में अपने कठोर स्वभाव के कारण वह विविध अशुभों (evils) को भेजता है। यह ईश्वर इतना कठोर है कि जो व्यक्ति इसको जानने में असमर्थ है, उन्हें यह कड़ी सजा देता है। यह बात अन्य धर्मों में नहीं पायी जाती। इन धर्मों में ईश्वर का ज्ञान नहीं रखने वालों को ईश्वर केवल मोक्ष प्राप्ति नहीं करने देता। इन अज्ञानियों को सजा देना ईश्वर उचित नहीं मानता। इस प्रकार यहूदी धर्म का ईश्वर अन्य धर्मों के ईश्वर से अधिक कठोर सिद्ध होता है।¹

ईश्वर के विषय में यह प्रश्न अधिकतर उठा करता है। यदि विश्व न्यायी, ईमानदार एवं दयालु ईश्वर की रचना है तो फिर इसमें सांसारिक अशुभों (worldly evils) की उत्पत्ति कैसे होती है? यदि सम्पूर्ण विश्व का कारण ईश्वर है तो फिर इसमें विद्यमान अशुभों एवं बुराइयों का कारण कौन है? यहूदी धर्म ईश्वर में कठोरता एवं ईर्ष्या के गुणों को स्वीकार करता है। विश्व के अशुभ ईश्वर के कठोर एवं ईर्ष्यालु स्वभाव के कारण उत्पन्न होते हैं। यहूदियों के अनुसार, ईश्वर हरे-भरे जंगल में आग लगा सकता है, वह अति वर्षा के द्वारा बाढ़ ला सकता है और भूकम्प आदि अशुभों से विश्व को तबाह कर सकता है। विश्व स्थित दुःखों, पापों, अशुभों एवं बुराइयों की व्याख्या ईश्वर के कठोर एवं ईर्ष्यालु स्वभाव के आधार पर सरलतापूर्वक की जा सकती है।

आरंभ में यहूदियों का विश्वास था कि ईश्वर द्वारा भेजे गये सांसारिक अशुभों से बचने का एकमात्र उपाय 'बलिदान' है। इसके लिए जानवरों की ईश्वर के नाम पर बलि चढ़ायी जाती थी, ताकि ईश्वर को प्रसन्न किया जा सके। इस धर्म की प्रारंभिक अवस्था में बलि-प्रथा प्रचलित थी। किन्तु बाद में धार्मिक भावना के विकास के साथ-साथ लोगों ने ऐसा अनुभव करना आरंभ किया कि जानवरों के बलिदान से ईश्वर को खुश करके सांसारिक अशुभों को हटाना संभव नहीं है। यही कारण है कि बलि-प्रथा के स्थान पर हृदय की पवित्रता, दान, भिक्षा, खैरात आदि को ईश्वर को प्रसन्न करने का अचूक साधन माना गया। यहूदी धर्म अपने विकसित रूप में बलि-प्रथा का कट्टर विरोधी है।

यहूदी धर्म कोई बौद्धिक या दार्शनिक विचारधारा नहीं है, बल्कि मूलतः ईश्वर की पवित्रता, न्यायप्रियता एवं दयालुता में धार्मिक विश्वास मात्र है ('Judaism is not an intellectual or philosophical system, but is in essence a religion belief in the holiness, righteousness and mercy of God.') इस प्रकार यहूदी धर्म का केन्द्र बिन्दु ईश्वर है।

यहूदी धर्म का सार (essence) इसका आचार शास्त्र (ethics) कहा जाता है। यह उच्चकोटि का नीतिशास्त्र प्रस्तुत

करता है। यहूदी ईश्वर में नैतिक गुणों का आरोपण करते हैं। ईश्वर ने मानव को अपने ही रूप में बनाया है (God has made man in his own image)। इसलिए मानव को भी अपने जीवन में ईश्वरीय गुणों को कार्य-रूप में परिणत करना है।

ईश्वर न्यायप्रिय, दयालु, क्षमाशील आदि है। मनुष्य को भी ईश्वर के समान ही न्यायप्रियता, क्षमाशीलता, प्रेम, सहानुभूति आदि गुणों को विकसित करना चाहिए। ईश्वर उसी व्यक्ति को अपना प्रिय पात्र बनाता है, जो शरीर से स्वच्छ एवं हृदय से पवित्र हो।² व्यक्ति अपने जीवन में दया, क्षमा, प्रेम, दान आदि को अपनाकर ही ईश्वर की दया का भागी बन सकता है। जो लोग इन सद्गुणों की अवहेलना करते हैं, ईश्वर उन्हें कठोर दण्ड देता है। ईश्वर के महान् नैतिक गुणों को कार्य-रूप देना मानव का पवित्र कर्तव्य है। कहा भी गया है— "As He is gracious so be thou gracious, as He is merciful so be thou merciful." पुनः ईश्वर के शब्दों में, "Ye shall be holy for I the Lord your God, am Holy." ईश्वर जिन नैतिक गुणों की खान है, उन गुणों को अपनाना प्रत्येक यहूदी को अपना कर्तव्य मानना चाहिए। इस प्रकार यहूदी धर्म में नैतिकता ईश्वर के स्वभाव से ही फलित होती है।

होलेल (Hillel) ने यहूदी धर्म के नीतिशास्त्र को केवल तीन वाक्यों में व्यक्त किया है— "यदि मैं अपने लिए नहीं हूँ तो

फिर मेरे लिए कौन होगा? लेकिन यदि मैं केवल अपने लिए हूँ तो फिर मैं क्या हूँ? और यदि अब नहीं तो फिर कब?³ इससे मानव के तीन कर्तव्य होते हैं, (ख) व्यक्ति का दूसरों के प्रति कुछ कर्तव्य होता है और (ग) कर्तव्य वर्तमान समय में ही पूर्ण करना चाहिए।

ईश्वर ने विश्व की रचना इसलिए की है कि मानव इसके विकास के लिए उसके साथ मिलकर प्रयास करे। मानव इस कार्य में ईश्वर का सहयोगी (co-worker) तभी हो सकता है जब वह आत्म-सुरक्षा (self-preservation), आत्मोन्नति (self-reformation) एवं आत्मपूर्णता (self-perfection) में सफल हो। आत्मा की रक्षा एवं इसके विकास की ओर प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान जाना चाहिए। दूषित विचारों के संसर्ग से आत्मा को मुक्त रखना एवं उत्तम विचारों का उदय करना व्यक्ति के पवित्र कर्तव्य हैं। इसके बाद आत्मा को पूर्ण (perfect) बनाने का हर प्रयास करना चाहिए। यहूदी धर्म में आत्मा की रक्षा, इसके विकास एवं इसकी पूर्णता को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। दोनों ही धर्म आत्मा को प्रमुख स्थान देते हैं।

यहूदी धर्म में सत्य पालन पर जोर दिया गया है। कहा भी गया है— (Truth is the seal of God. Man is exhorted to walk in His way and it is truthfulness that puts on man the divine pattern)."

सत्य पालन के काम में व्यक्ति को मिथ्याभाषण, परनिन्दा आदि बुराइयों से दूर रहकर सत्य भाषण का सहारा लेना पड़ता है। सत्य को उच्च स्थान देने के कारण यहूदी धर्म—हिन्दू धर्म, जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म के अधिक निकट दीख पड़ता है।

‘सन्तोष’ (contentment) यहूदी धर्म में एक विशेष स्थान रखता है। सबसे धनी कौन है? इसके उत्तर में कहा गया है कि ‘जो अपने—आप में सन्तुष्ट हो’ (He who is satisfied with himself.) जो व्यक्ति सन्तोष रखकर ईश्वर—आराधना करता है, उसे सफलता अवश्य मिलती है। सन्तोष के साथ व्यक्ति ईश्वर के सम्मुख आत्मसमर्पण करने से ईश्वर प्रसन्न होता है। सन्तोष के साथ विन्नमता (humility) का अभ्यास भी ईश्वर—प्राप्ति में आवश्यक माना गया है।

पड़ोसी (neighbour) और अजनबी (stranger) की सहायता को यहूदी धर्म में प्रमुख स्थान दिया गया है। इस धर्म में कहा गया है—‘अपने पड़ोसी को अपना समझकर प्यार करो’ (Love thy neighbour as thyself.) ‘अजनबी को प्यार करो’ (Love the stranger.) यह इस धर्म का आदेश है। यहूदी धर्म के ‘दस आदेशों’ (Ten Commandments) में यह भी कहा गया है—“अपने पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही मत दो।” अपने पड़ोसी के मकान, सभी नौकर, नौकरानी, बैल, गदहा—किसी वस्तु के प्रति लालच न

करो।” इससे स्पष्ट पता चलता है कि इस धर्म में पड़ोसी एवं अजनबी को कितना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

यहूदी धर्म में दान एवं भिक्षा को भी उच्च नैतिक कर्मों की कोटि में रखा गया है। प्रत्येक यहूदी का यह पवित्र कर्तव्य है कि वह आवश्यकता पड़ने पर दूसरों की मदद करे। अपनी सम्पत्ति का कुछ अंश अवश्य गरीबों एवं पीड़ितों में वितरित करना चाहिए। गरीबों को आर्थिक मदद करने से भागने वाला व्यक्ति ईश्वर के आदेश का उल्लंघन करता है और उसे कठोर सजा मिलती है। इस्लाम धर्म में भी दान और भिक्षा पर विशेष जोर दिया जाता है। खैरात (alms-giving) इस्लाम धर्म में उच्च कोटि का नैतिक कर्म माना गया है। इस प्रकार, यहूदी धर्म और इस्लाम धर्म में यहाँ समानता दीख पड़ती है।

यहूदी धर्म संन्यासवाद (asceticism) का विरोधी और कर्मवाद का समर्थक है। ईश्वर ने कर्म भूमि के रूप में विश्व की रचना की है। मानव को सक्रिय होकर आत्मविकास एवं विश्व के विकास के लिए प्रयत्न करना चाहिए। यह विश्व मानव का निवास स्थल है। ईश्वर ने मनुष्य को कुछ कर्म करने और कुछ खास कर्मों के नहीं करने की आज्ञा दी है। कुछ कर्म ऐसे हैं, जिनके कर्ता को ईश्वर का कोप भाजन होना पड़ता है। ये कर्म इस प्रकार हैं—“मूर्तिपूजा (idolatory), अपशब्द (blasphemy), एक

गोत्र की स्त्री के साथ समागम (incest) हत्या, चोरी, मांस खाना, अन्याय आदि।” इन कर्मों का परित्याग नैतिक जीवन में आवश्यक है।

कर्मवाद (Law of Karma), पुनर्जन्म (rebirth) एवं आत्मा की नित्यता (immortality of the soul) में विश्वास रखकर व्यक्ति को नैतिक आचरण करना चाहिए। यहूदी धर्म कर्मवाद, पुनर्जन्म एवं अमर आत्मा को स्वीकार करता है। कर्मवाद के अनुसार, व्यक्ति को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। अच्छे कर्मों के लिए पुरस्कार एवं बुरे कर्मों के लिए व्यक्ति को दण्ड निश्चित रूप से मिलता है। इस लघु जीवन में व्यक्ति के सभी कर्मों का फल मिलना संभव नहीं है; इसलिए मनुष्य को बार-बार जन्म लेना पड़ता है यही पुनर्जन्म है। यहूदियों की उपर्युक्त अवधारणाओं का ईसाइयों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। किन्तु मध्य युग के पश्चात यह मत जातियों का नहीं बल्कि व्यक्तियों का रह गया। रसेल के शब्दों में “After the Middle Ages, the Jews still contributed largely to civilization as individuals but no longer as a race.”⁴

References

1. "The other faiths we have studied do not know of a jealous God. The follower of eastern religions is not punished for his lack of awareness of God. Nor is it quite correct to say

that he is punished. Rather has lack of awareness prevents his salvation. The follower of Jehovah is punished for his lack of awareness by God. – Frederic Spiegelbert : Living Religions of the World, p. 441.

2. "The man who has clean hands and a pure heart, who has not lifted up his soul onto falsehood nor sworn deceitfully," can stand in His only place".
3. "If I am not for myself, who will be for me? But if I am for myself alone what am I? And if not now when then?"- Hillel
4. B. Russell, History of western philosophy, P. 343.

संकल्प पत्र

मुझे गर्व है, मैं भारतीय हूँ और कर्तव्य निष्ठा से संकल्प लेता हूँ/लेती हूँ कि –

- (1) संविधान का, राष्ट्र ध्वज का एवं राष्ट्र गान का आदर करूंगा।
- (2) राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों का पालन करूंगा।
- (3) देश की, भारत की एकता-अखंडता और प्रभुता की एवं वन, झील, नदी और वन्य जीवों की रक्षा करूंगा।
- (4) राष्ट्र की सेवा करूंगा।
- (5) स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध प्रथाओं का एवं धर्म, भाषा, प्रदेश या वर्ग के आधार पर भेदभाव नहीं करूंगा।
- (6) प्राणी मात्र के प्रति दया भाव रखूंगा।
- (7) हिंसा से दूर रहूंगा।
- (8) सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा करूंगा।
- (9) वैज्ञानिक दृष्टिकोण का, मानवतावाद का, सुधार की भावना का विकास करूंगा।
- (10) भारत के सभी लोगों में समरसता और सम्मान एवं भातृत्व की भावना का निर्माण करूंगा।
- (11) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का प्रयास करूंगा।

“अधिकारों के प्रति जागरूक रहो—कर्तव्यों के प्रति समर्पित रहो।”

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़।

भारतीय मानवाधिकार आयोग सभी बालक, विद्यार्थी व नागरिक बन्धुओं से अपेक्षा करता है कि अपनी फोटो व हस्ताक्षर के साथ संविधान में वर्णित मुख्य कर्तव्यों “Article 51A” का संकल्प लें और रोजाना दोहराएं।